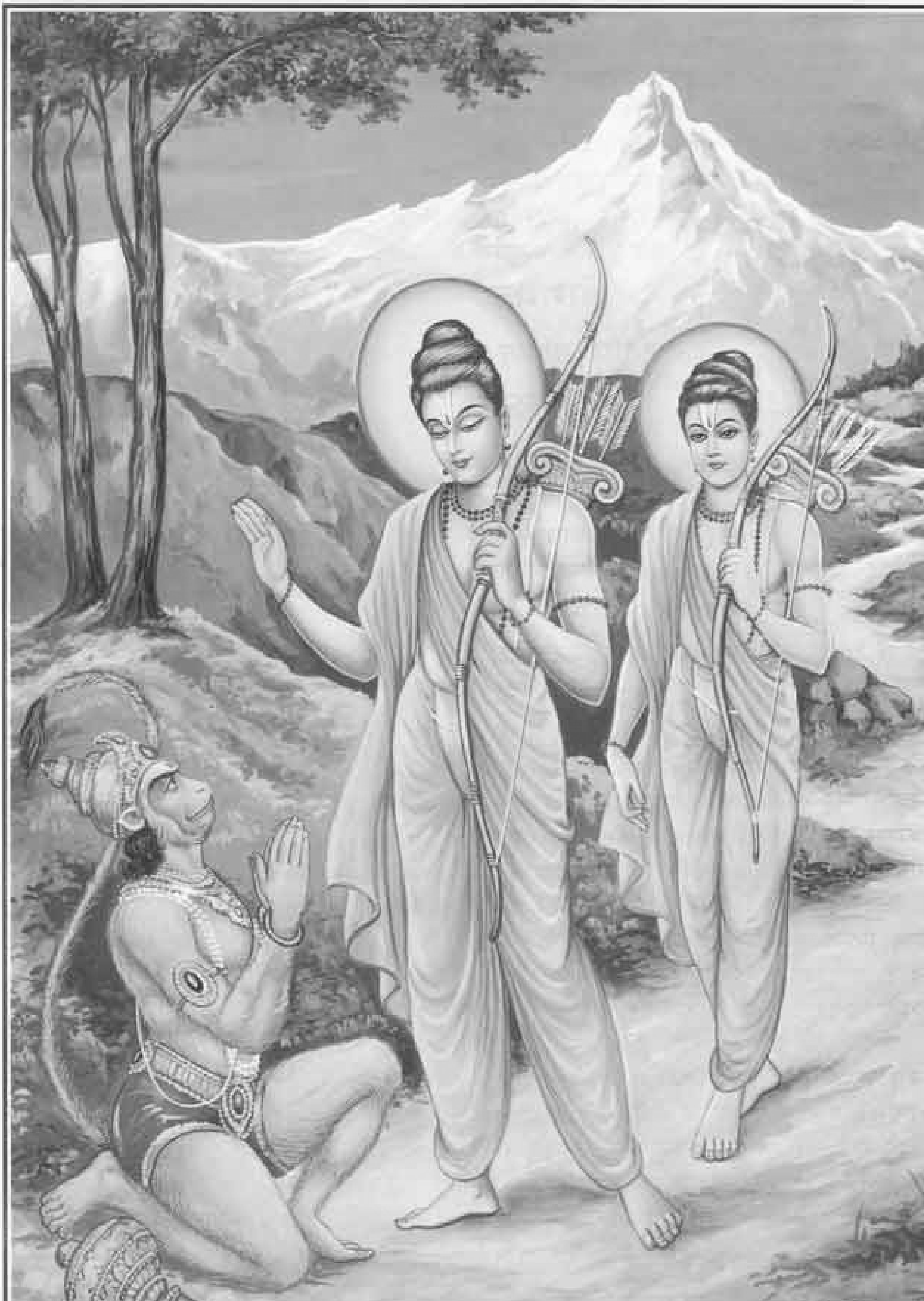
तृतीय सोपान (अरण्यकाण्ड) के प्रकरणोंकी सूची

पूवार्ध

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

तृतीय सोपान (अरण्यकाण्ड) के कुछ शब्दों और विषयों आदिकी तालिका

हनुमान्‌जीकी प्रार्थना



एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥

॥ श्रीः ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्याय। श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः।
ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्यायै श्रीरूपकलादेव्यै। श्रीसन्तगुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः।
ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते।
ॐ साम्बशिवाय नमः। श्रीगणेशाय नमः। श्रीसरस्वत्यै नमः।
परमाचार्य्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः।

श्रीरामचरितमानस

तृतीय सोपान (अरण्यकाण्ड)

मानस-पीयूष

स्वबोधिनी-व्याख्यासहित

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

श्लोक—मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः[1] पूर्णेन्दुमानन्ददं
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघन[2]ध्वान्तापहं तापहम्।
मोहाम्भोधरपूग[3]पाटनविधौ स्वःसम्भवं[4] शंकरं
वन्दे ब्रह्मकुलं कलंकशमनं श्रीरामभूपप्रियम्॥ १॥

अर्थ—धर्मरूपी वृक्षके मूल, विवेकरूपी समुद्रको आनन्द देनेवाले पूर्णचन्द्र, वैराग्यरूपी कमलके (प्रफुल्लित करनेके लिये) सूर्य, पापरूपी घोर अन्धकारका निश्चय ही नाश करनेवाले, दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों तापोंके हरनेवाले, मोहरूपी बादलोंके समूहको विच्छिन्न करने (तितर-बितर, छिन्न-भिन्न करने वा उड़ाने) की विधिमें आकाशसे समुत्पन्न पवनरूप, शं (कल्याण) के करनेवाले, ब्रह्मकुल (वा, ब्रह्मकुलके) कलंकके नाशक और राजा श्रीरामचन्द्रजीके प्यारे एवं जिनको राजा श्रीरामचन्द्रजी प्रिय हैं, उन श्रीशङ्करजीको मैं प्रणाम करता हूँ। ॥ १॥

नोट—१ पार्वतीजीका छठा प्रश्न है—'*बन बसि कीन्हे चरित अपारा।*' (१। ११०। ७) इसका उत्तर अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डोंमें वर्णन किया गया है। 'वन' शब्दका प्रयोग इन तीनोंमें विशेषरूपसे हुआ है; परंतु इस काण्डमें सबसे अधिक हुआ है। अतएव इस काण्डका नाम 'वनकाण्ड' (पं० शिवलाल पाठकके मतानुसार) वा 'अरण्यकाण्ड' हुआ। (रा० प्र० श०)।

प्रत्येक काण्डका नामकरण किसी-न-किसी विशेष कारणसे हुआ है जिसमें उसके नायकका कोई-न-कोई विशेष सम्बन्ध है। किसी-किसी काण्डका नाम चरितके सम्बन्धसे है और किसी-किसीका स्थानके सम्बन्धसे। बालकाण्डके नायक चारों कुमारोंके बालचरितपर बालकाण्डका नाम रखा गया है। अयोध्याकाण्ड इसलिये नाम पड़ा कि सारी घटनाएँ अयोध्याके राज्यके सम्बन्धमें हुई हैं। अरण्य या वनकाण्ड इसलिये कहा गया कि वनवासका सबसे अधिक समय दण्डकारण्यमें बीता। किष्किन्धाकाण्डकी सारी घटनाएँ किष्किन्धामें और लंकाकाण्डकी लंकामें हुईं। सुन्दरकाण्डका नाम उस गिरिशिखरके नामसे पड़ा है जिसपरसे

१—जलधे—भा० दा०। जलधेः—१७०४, को० रा०। २—घन—भा० दा०, रा० बा० दा०, को० रा०। घन—१७०४, रा० प०, गी० प्रे०। ३—पुञ्ज—को० रा०। पूग—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, १७०४। ४—श्वासं भवं—१७०४, रा० प्र०। खे संभवं—वै०। स्वः संभवं—भा० दा०, को० रा०। श्वासं भवं=दक्षिण वायुरूप और 'भव' नामवाले हैं। ख संभवं=आकाशसे उत्पन्न=वायु। यह पाठ श्रीरामगुलाम द्विवेदीजीका है। (रा० प्र०)

समुद्रलङ्घनके लिये श्रीहनुमान्‌जीने पहली छलाँग मारी। राज्यसिंहासनपर बैठनेके बादकी कथाएँ उत्तरकाण्डमें हैं क्योंकि उत्तरका अर्थ ही है पीछेका। (श्रीगौड़जी)

नोट—२ यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है। बा० मं० श्लो० ६ में श्रीरघुनाथजीकी वन्दना इसी छन्दमें की गयी है। वहाँ इसका स्वरूप लिखा जा चुका है। इसके चारों चरणोंमें १९-१९ अक्षर होते हैं और मगण-सगण-जगण-सगण दो तगण अन्तका वर्ण गुरु, यह उसका स्वरूप है। यह बात स्मरण रखनेयोग्य है कि सातों काण्डोंके मङ्गलाचरणके आदि श्लोकमें मगण गणका ही प्रयोग हुआ है। अर्थात् सर्वत्र आदिके तीनों वर्ण गुरु ही हैं—**वर्णानाम्, यस्याङ्के, वामाङ्के, मूलं धर्म०, कुन्देन्दीवर, शान्तं शाश्वतं, रामं कामारिसेव्यं** और **केकीकंठाभं**। बालकाण्डमें कहा जा चुका है कि मगणका फल है '**श्रिय**' कल्याणका विस्तार करना। वक्ता-श्रोता दोनोंके कल्याणके हितार्थ इस गणका सर्वत्र प्रयोग किया गया। विशेष बां० मं० श्लो० १ और ६ में देखिये।

टिप्पणी—१ '**मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः**······' इति। (क) धर्मपर वृक्षका आरोप करके शिवजीको उसका मूल कहा। जड़के बिना वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता, सूख ही जाता है और केवल जड़के सींचनेसे पूरा वृक्ष हरा-भरा रहता है। वैसे ही यहाँ 'मूल' कहकर जनाया कि शिवजीके स्मरण एवं सेवासे धर्मकी उत्पत्ति, पालन और वृद्धि होती है, इसीसे सम्पूर्ण धर्म हरे-भरे रहते हैं। [नोट—शास्त्रोंमें धर्म चार प्रकारके कहे गये हैं—तप, शौच वा ज्ञान, दया और दान। ये ही धर्मके चार पैर माने गये हैं। यथा—'***चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥***' (७। २१) पुनः, धर्म=सुकृत, पुण्य। जितने धर्म हैं वे चारों चरणोंमें आ गये। करुणासिंधुजी धर्ममें भगवत्-भागवत धर्मको लेते हैं। रा० प्र० कार लिखते हैं कि '**मूलं धर्मतरोः**' कहनेका भाव है कि इसीसे तो ये 'वृषध्वज' हैं। धर्म सबका मूल है। पञ्चतत्त्व सबका कारण माने जाते हैं, उनका भी कारण धर्म है। शिवजी उस धर्मके भी मूल अर्थात् ध्वजा हैं। भाव यह कि पृथ्वी बहुतोंका आधार है, उसमें क्षमा और धारण आदि धर्म हैं। इसी तरह जलमें शैत्यादि, अग्निमें दाहकादि, पवनमें गति आदि और आकाशमें शब्द और स्वच्छता आदि धर्म हैं। इन सब धर्मोंके जो कारण हैं उनके भी जो उत्तरोत्तर कारण हैं उनके भी कारण शिवजी हैं। (ख) '**पूर्णेन्दुमानन्ददं**' इति। पूर्णचन्द्रको देखकर समुद्र बढ़ता है, यथा—'***राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान। बढ़ेउ कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥***' (७। ३) विवेकको समुद्र और शिवजीको पूर्णचन्द्र कहकर जनाया कि शिवजीके दर्शनसे विवेककी वृद्धि होती है]! पुनः भाव कि कर्मसे अघका नाश होता है, यथा—'***चारिउ चरन धरम······पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं।***' अघके नाशसे चित्तकी शुद्धि होती है तब विवेक होता है और विवेकसे आनन्द होता है। ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिसे विषयोंसे सर्वथा वैराग्य होता है, यथा—'***मोहमय कुहू निसा बिसाल काल बिपुल सोयो खोयो सो अनूप रूप स्वप्न जू परे। अब प्रभात प्रगट ज्ञानभानुके प्रकास वासना सराग मोह-द्वेष निबिड़ तम टरे॥ भागे मद मान चोर भोर जानि जातुधान काम क्रोध लोभ छोभ निकर अपडरे। देखत रघुबर प्रताप बीते संताप पाप ताप त्रिबिधि प्रेम आप दूर ही करे॥ श्रवन सुनि गिरा गँभीर जाने अति धीर बीर बर बिराग तोष सकल संत आदरे।***' (वि० ७४) (ग) '**विवेकजलधेः**' इति। कर्ममें फल लगता है इसीसे धर्मको तरु कहा। ज्ञान अगाध है, उसका अन्त नहीं, अतः उसे समुद्र कहा। यथा—'***गुर बिबेक सागर जगु जाना।***' (२। १८२) '***ज्ञान अंबुनिधि आपुनु आजू।***' (२। २९३) और गुरुको शङ्कररूप कहा ही है, यथा—'**वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्**' (१ मं० श्लो०) ('**विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददम्**' का भाव कि बड़े-बड़े ज्ञाननिधान भी आपके दर्शन-स्मरण-सत्सङ्गसे आनन्दको प्राप्त होते हैं। उनका ज्ञान वृद्धिको प्राप्त होता है)। (घ) '**वैराग्याम्बुजभास्करम्**' इति। वैराग्यसे सङ्गदोष नहीं रह जाता, अतः उसे कमल कहा। यथा—'***पदुमपत्र जिमि जग जल जाए।***' (२। ३१७) (जैसे कमल जलसे निर्लिप्त रहता है वैसे ही वैराग्यवान् विषयसे निर्लिप्त रहता है। सूर्य कमलको विकसित करता है। वैसे ही वैरागियोंके वैराग्यकी वृद्धि परम विरक्त श्रीशिवजीके स्मरण-दर्शन आदिसे होती है)।

टिप्पणी—२ '**मूलं धर्म······वैराग्याम्बुजभास्करं**······' इति। (क) धर्मादिके क्रमका भाव यह है कि धर्मसे

चित्तकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होता है और धर्मसे ही वैराग्य भी होता है, यथा—*'धर्म तें बिरति……'* (३। १६। १) तब भक्ति होती है। यथा—*'जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥'* (२। ९३) ज्ञान हुआ और वैराग्य न हुआ तो वह ज्ञान व्यर्थ है, यथा—*'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।'* (७। ८९) जैसे *'बिनु बिराग सन्यासी'*। अत: धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति क्रमसे कहे। पुन:, (ख) इस मङ्गलाचरणमें कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों क्रमसे कहे गये। **'मूलं धर्मतरोः'** यह कर्म वा धर्म है, **'विवेकजलधेः'** यह ज्ञान है और **'वैराग्याम्बुज……रामभूपप्रियम्'** यह भक्ति है, क्योंकि इसीसे श्रीरामचरणारविन्दमें अनुराग होता है।

टिप्पणी—३ **'अघघनध्वान्तापहं तापहम्'** इति। (क) पहले धर्म, इन्दु और भास्कर (सूर्य) कहकर तब *'अघ घन……'* कहनेका भाव कि धर्मसे अघका नाश, सूर्यसे अन्धकारका नाश और चन्द्रसे तापका नाश होता है। पुन:, [चन्द्र और सूर्य दोनोंकी एक साथ उपमा देकर अधिक अद्भुत और अकथनीय जनाया। अति प्रकाशक और तापनाशक दोनों हैं। (रा० प्र०) चन्द्र और सूर्य दोनों हैं, यथा—*'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम।'* (१। ११५) *'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥'* (१। १२०) वचनको रविकर और शशिकर कहकर जनाया कि आप रवि और शशि हैं।]ध्वान्त=अन्धकार, यथा—**'अन्धकारः स्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः।'** (अमर० १। ८। ३) **अपहं**=नाशक। (ख) **अघहरं**, यथा—**'प्रातःकाल शिवं'** (नोट—सूर्यभगवान्‌के तीन रूप कहे गये हैं, यथा-*'हरि संकर बिधि मूरति स्वामी'* (वि० २) उसीकी ओर यहाँ लक्ष्य है)। (ग) **तापहं** अर्थात् तीनों तापोंके नाशक हैं। यथा—**'शुभांशु कलितान्तं संतापहरं ततः शिवम्॥'** शङ्करजी पाप और तापके नाशक हैं ही जैसा कि **'जराजन्मदुःखौघतातप्यमानं। प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो॥'** (७। १०८) इस विप्रस्तुतिसे स्पष्ट है। [(घ) शिवजीको सूर्य कहा। सूर्य सघन अन्धकारका सहज ही नाशक है। यथा—*'दिनकर के उदय जैसे तिमिर तोम फटत।'* (वि० १२९) इसीसे अघको सघन अन्धकार कहा। भाव कि शिवजीके स्मरणसे कलिकलुषसमूह बिना परिश्रम ही नष्ट हो जाता है। विशेषता यह है कि सूर्य तापहर्ता हैं, पर शङ्कररूपी सूर्य ताप ही नहीं किन्तु, दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों ही तापोंको हर लेते हैं।]

टिप्पणी—४*'मोहाम्भोधर……'* इति। अम्भोधर=जलका धारण करनेवाला=मेघ। मोह ज्ञानको ढाँप लेता है (छिपा देता है) जैसे मेघ सूर्यको। यथा—*'जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥'* (१। ११७) अतएव मोहको अम्भोधर कहा। [ज्ञानको सूर्य कहा गया है, यथा-*'जासु ज्ञान रबि भव निसि नासा।'* (२। २७७। १) 'ज्ञान भानुगत' (७। १२१) पूग=समूह। पाटन=उड़ाने, छिन्न-भिन्न करनेकी। **स्वः संभवम्**=वायु। **स्वर्**=आकाश। **संभव**=उत्पन्न। **स्वः संभवम्**=आकाशसे जो उत्पन्न हुआ हो। वायु आकाशसे उत्पन्न माना जाता है। यथा—**'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः'**(तैत्ति० २। १) अर्थात् उस परमात्मासे पहले आकाशतत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायुतत्त्व। वायु मेघोंको उड़ा देता है, यथा—*'मोह महा घन पटल प्रभंजन।'* (६। ११४) और शङ्करजी मोहके नाशक हैं, यथा—*'चिदानन्द संदोह मोहापहारी।'* (७। १०८) अत: शङ्करजीको **'स्वःसम्भव'** (पवन) कहा]। शङ्कर=कल्याणकर्ता।

टिप्पणी—५ **'ब्रह्मकुलं कलंकशमनम्'** इति। ब्रह्मकुल हैं और कलंकके नाशक हैं। अपने परम भक्त चन्द्रमाको अपने मस्तकपर धरके उसके गुरुतल्पगताका कलंक मिटा दिया और उसको जगद्वन्द्य बना दिया, यथा—**'यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।'** (१ मं० श्लो०)

नोट—३ **'ब्रह्मकुलम्'** के कई प्रकारसे अर्थ किये गये हैं। (१) ब्रह्मकुल=ब्रह्मरूप, ब्रह्म अर्थात् ईश्वरकोटि, यथा—**'विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं'** भाव कि ये ईश्वर हैं, जीव नहीं हैं—(वै०) (२) कुल=देश, गोत्र, सजातीय, भवन और तन। यथा—**'कुलं जनपदे गोत्रे सजातीये गणेऽपि च इति मेदिनी।'** अर्थात् शंकरजीका देश, गोत्र, सजातीय आदि सब कुछ ब्रह्म ही है। (पं०) (३) ब्रह्म=ब्राह्मण, यथा—*'मोहि न सुहाइ ब्रह्मकुल द्रोही'*। ब्रह्मकुल=ब्राह्मण है कुल जिसका। (प्र०) **'ब्रह्मकुलं कलंकशमनम्'**=ब्राह्मणकुलके

कलंकके नाश करनेवाले।—(करु०, पां०) अर्थात् अपना ब्राह्मणत्व धर्म छोड़कर परधर्मपर चलना कलंक है उसको शङ्करजी नाश कर देते हैं यदि उनका भजन किया जाय, क्योंकि वे रामानन्य हैं—(करु०) वा, भृगुजी ब्राह्मणकुलमें कलंक हुए कि उन्होंने भगवान्को लात मारी। वह कलंक इनके द्वारा मिटा, क्योंकि ये भगवान्के परम भक्त हुए। (४) ब्रह्म=ब्रह्मा। ब्रह्माके कुलके हैं। इस तरह कि एक रुद्र ब्रह्मासे उत्पन्न हुआ। सृष्टिको बढ़ते न देख ब्रह्माजी भगवान्का चिन्तन करने लगे, उसी समय सनकादिक उत्पन्न हुए। ब्रह्माजीने उनको सृष्टि रचनेकी आज्ञा दी, पर उन्होंने यह आज्ञा न मानी और वनको चल दिये। तब ब्रह्माजीको बहुत क्रोध हुआ। उसी तामसी वृत्तिके समय उनके ब्रह्माण्डसे एक नीलवर्ण बालक उत्पन्न हुआ जो बहुत रोया। इसीसे उसका नाम 'रुद्र' रखा गया। ग्यारह रुद्रोंमेंसे एक रुद्र यह है। अतः शिवजीको ब्रह्मा वा ब्राह्मणकुल कहा।

टिप्पणी—६ (क) **'श्रीरामभूपप्रियम्।'** इति। अर्थात् चक्रवर्ती राजारूप प्रिय है, यथा—***'अनुज जानकीसहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥'*** (६। ११४) पुनः भाव कि आप श्रीरामजीके प्यारे हैं, यथा—***'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे।'*** (१। १३८) तथा शिवजीको श्रीरामजी प्रिय हैं, यथा—***'छमासील जे पर उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी॥'*** (७। १०९) इस तरह दोनोंमें अन्योन्य प्रेम दिखाया। [(ख) **'श्रीरामभूपप्रियम्'**=दाशरथि श्रीरामचन्द्रजीको जो प्रिय हैं और जिनको दाशरथि श्रीरामजी प्रिय हैं। यहाँ सतीके मोहके कारणका स्मरण दिलाते हुए, राजा रामचन्द्र और परतम परमात्मा रामकी एकताको पुष्ट भी कर रहे हैं। (गौड़जी)] भूप शब्द देकर श्रीरामके सगुण स्वरूपके उपासक जनाया।

नोट—४ रा० प्र० का मत है कि यहाँ 'तरुके मूल कहनेसे पार्थिव, **'विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददम्'** से जल (तत्त्वका) भाव, ***'मोहाम्भोधरपूग''''''भवम्'*** में दक्षिण वायुसे पवनका भाव और 'ब्रह्म' अर्थात् वेद है कुल जिसका इति 'ब्रह्मकुल' से आकाशतत्त्वका भाव सूचित होनेसे सर्वकारणत्व सिद्ध हुआ। इस पक्षमें धर्मसे यज्ञादि-धर्मका ग्रहण होगा।'

नोट—५ इस श्लोकमें श्रीशङ्करजीके अष्टस्वरूपयुक्त मूर्तिकी वन्दना की गयी है। 'पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, (अर्थात् पञ्चतत्त्व) यज्ञकर्ता, सूर्य और चन्द्रमा ये ही उनके अष्टस्वरूप हैं। यथा—**'भूर्जलं वह्निराकाशं वायुर्यज्वा शशी रविः। इत्यष्टौ मूर्तयः शम्भोर्मङ्गलं जनयन्तु नः।'** यहाँ धर्मसे यज्ञमूर्ति, तरुमूलसे पृथ्वीतत्त्वरूप, जलधेः तथा पूर्णेन्दुसे जलतत्त्वरूप (क्योंकि इन्दु जलमय है), पूर्णेन्दुसे चन्द्ररूप, भास्करसे सूर्यरूप, स्वःसे आकाशरूप और स्वः सम्भवसे पवनतत्त्वरूप जनाया। सूर्य अग्नि (तेज) मय है अतः भास्करसे अग्नितत्त्वरूप भी जनाया। ['अभिज्ञानशाकुन्तल' में कविसम्राट् कालिदासने भी अष्टमूर्तिसे मङ्गल किया है। यथा—**'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्। यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यथा प्राणिनः प्राणवन्तः प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥'** (१। १) अर्थात् 'भगवान् शंकरकी जो जलमयी मूर्ति ब्रह्माकी सर्वप्रथम सृष्टि है, जो अग्निमयी मूर्ति वैदिक विधानसे हवन की हुई सामग्रियोंको—जिन देवताओंको हवन की जाती उसे—उन-उन देवताओंके पास पहुँचाती है, ईश्वरकी जो मूर्ति स्वयं होत्री अर्थात् यजमानस्वरूपा है, जो चन्द्र-सूर्यात्मक दो मूर्तियाँ दिन तथा रात करती रहती हैं, श्रवणेन्द्रियका विषयीभूत शब्दोंका आश्रय, जो आकाशमयी मूर्ति सारे विश्वमें व्याप्त होकर विद्यमान रहती है, जो क्षितिमयी मूर्ति सब प्रकारके अन्नोंकी बीजस्वरूपा है और जिससे संसारके सब प्राणी जीवित रहते हैं, वह वायुमयी मूर्ति, ये जो प्रत्यक्ष दृश्यमान् भगवान्की आठ मूर्तियाँ है, उन आठोंसे उपलक्षित प्रसन्न शिवजी आपलोगोंकी रक्षा करें। विष्णुपुराणमें अष्टमूर्तिके सम्बन्धका श्लोक यह है—**'सूर्यो जलं मही वायुर्वह्निराकाशमेव च। दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात्॥'** (वि० पु० १। ८। ८)

नोट—६ यहाँ टीकाकारोंने ये प्रश्न उठाकर कि—(१) 'प्रथम शिवजीका मङ्गलाचरण क्यों किया गया? (२) वृक्षके रूपकसे वन्दना प्रारम्भ करनेका भाव क्या है?' उनके उत्तर इस प्रकार दिये हैं—१ (क)

शिवजी मानसके आचार्य हैं—(करु०) पर इसमें यह शङ्का होती है कि यदि आचार्यभावसे प्रथम वन्दना हुई तो अगले काण्डोंमें भी क्यों यह क्रम न रखा गया? इसका उत्तर किष्किन्धाकाण्डमें दिया गया है। (ख) काण्डकी निर्विघ्न परिसमाप्तिके लिये प्रथम कल्याणदायक शंकरजीका मङ्गलाचरण हुआ और इसीसे '**शंकर**' नामसे वन्दना की गयी। (पं०, पु० रा० कु०) इसमें भी वही शंका हो सकती है। (ग) वनकी उदासीन लीलाका वर्णन करना है; इसलिये उदासीनरूप और समर्थ जानकर शंकरजीकी प्रथम वन्दना की। (वै०) (घ) प्रथम शिवजीकी वन्दना की क्योंकि इस काण्डमें भक्तिका उपदेश है और बिना इनकी भक्ति वा प्रसन्नताके रामभक्ति नहीं होती। यथा—'***संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।***' (७। ४५) '***जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भक्ति हमारी॥***' (१। १३८) (पं० रा० कु०)।

दूसरे प्रश्नका उत्तर—(क) फलकी अभिलाषासे वृक्षके रूपकसे वन्दना प्रारम्भ की। (पु० रा० कु०)। (ख) वनमें मूल, फल, वृक्ष ये ही होते हैं और इस काण्डमें उन्हें सर्वत्र मूल-फल ही भेंट (अर्पण) किये जायेंगे, अतएव इस वनकाण्डको मूल और तरुसे प्रारम्भ किया। यथा—'***दिये मूल फल प्रभु मन भाये***' (अत्रि), '***कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहँ आनि***' (शबरी) इत्यादि। पुनः, धर्म एवं वृक्षसे सुख मिलता है। इस वनयात्रामें प्रभुको और उनसे भक्तों एवं सुर-नर-मुनि सबको सुख प्राप्त हुआ है, यह सूचित करनेको आदिमें वृक्षका रूपक दिया। यथा—'***रिषि निकाय मुनिवर गति देखी। सुखी भए*****।' (३। ९) '***सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥***' (९) '***जाग न ध्यान जनित सुख पावा***' (सुतीक्ष्णजी) '***सुखी भये मुनि बीती त्रासा।***' (१४। १) '***भगति जोग सुनि अति सुख पावा।***' (१७। १)। (लक्ष्मणजी), '***निज परम प्रीतम देखि लोचन सफल करि सुख पाइहउँ॥***' (२६) (मारीच), '***मन महुँ चरन बंदि सुख माना।***' (२८। १६) (रावण), '***मज्जन कीन्ह परम सुख पावा।***' (४१। १) (श्रीरामजी) और अत्रि, शरभंग, अगस्त्य एवं शबरीजी इत्यादिका सुख तो प्रत्यक्ष और प्रसिद्ध ही है।

नोट—७ इस श्लोकमें धर्म, वैराग्य, माया (क्योंकि मोहकी सहायक यही है) और भक्ति इन सब बातोंको कहा। क्योंकि इस काण्डमें इनके विषयमें प्रश्न, उत्तर वा उपदेश आये हैं। उदाहरण—(१) कबन्धको धर्मोपदेश, यथा—'***मोहि न सुहाइ ब्रह्मकुल द्रोही॥*********।' (३३) '*********कहि निज धर्म ताहि समुझावा***'। (२) शबरीजीसे नवधाभक्ति, यथा—'***नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं।***' (३) लक्ष्मणजीसे, यथा—'***तब मम धरम उपज अनुरागा।***' (१६। ७) लक्ष्मणजीने सबके स्वरूप पूछे और प्रभुने कहे। (४) नारदजीको मायाका स्वरूप बताया। इत्यादि। अतः यह श्लोक वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण है।

प० प० प्र०—१ अरण्यकाण्ड तीसरा काण्ड है और बालकाण्डके मङ्गलाचरणका तीसरा श्लोक '**वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं*******' यह है। यह श्लोक अरण्यकाण्डके विषयको सूचित करता है।

कोई भी गुरु क्यों न हों वे हैं शंकरजीका ही रूप। गुरुजी शिवरूप हैं और शिवजी गुरुरूप हैं; यथा—'गुरुं शंकररूपिणम्', '***तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना***', '***सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥***', 'शिव एव गुरुः साक्षाद् गुरुरेव शिवः स्वयम्। उभयोरन्तरं किंचिन्न द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥' (सर्ववेदान्तसारसंग्रह) बा० मं० श्लोक ३ के '**यमाश्रितो हि वक्रोऽपि*****'का मिलान सर्ववेदान्तसारसंग्रहके '**यमाश्रित्याऽश्रमेणैव परं पारं गता बुधाः**' से कीजिये।

धर्मसे कैसे विरतिकी प्राप्ति होती है यह अयोध्याकाण्डमें विशेषतः 'भरतचरित' से बताया, अतएव उस काण्डके उपसंहारमें '***सीयरामपद प्रेम अवसि होइ भवरस बिरति***' कहकर रामपद-प्रेम-प्राप्तिके लिये '**भवरसविरति**' की आवश्यकता बतायी। भवरस-विरति=वैराग्य। अब इस काण्डमें बताते हैं कि सद्गुरुरूपी **शङ्कर**जीकी संगति और कृपासे ही विश्वास, श्रद्धा, धर्म, वैराग्य और ज्ञान प्राप्त होकर मोहमायाका नाश होकर तब '***रामपदप्रेम होइ***'। अतएव इस काण्डके मङ्गलाचरणके प्रथम श्लोकमें '**वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्**' इस सिद्धान्तानुसार शङ्करजीका मङ्गलाचरण करते हैं। प्रथम श्लोकके पदमें सद्गुरुका **एक**-एक मुख्य लक्षण यथाक्रम ध्वनित किया है और उसी क्रमसे सद्गुरुके सेवकोंको '**वक्र**' होते हुए

भी रामप्रेमतक सभी सुखदायक साधनोंकी प्राप्ति होती है। गुरुलक्षणोंका वर्णन केवल इसी काण्डके उपक्रम और उपसंहारमें ध्वनित है, अन्यत्र कहीं एक स्थानमें नहीं है।

प० प० प्र०-२ **'मूलं धर्मतरोः'** इति। श्रद्धाबिना धर्म नहीं हो सकता, अतः श्रद्धा ही धर्मतरुका मूल है। श्रद्धाको भवानी और विश्वासको शिव कहा है। यथा—**'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ'**। श्रद्धा कैसे प्राप्त हो? इसके लिये प्रथम सन्तसद्गुरुकी संगति करे। सेवा और श्रवणसे प्रथम विश्वास (आस्तिक्य बुद्धि) उत्पन्न होगा, फिर विवेक और तब श्रद्धा। जब गुरु, शास्त्र और ईश्वरमें आस्तिक्य भाव होगा तो इस विश्वासरूपी शिवकी गोदमें श्रद्धा-भवानी आ जायँगी। अतः गुरुमें ही ये सब गुण होने चाहिये, उनमें न हुए तो शिष्यको कहाँसे प्राप्त होंगे? अतः **'मूलं धर्मतरोः'** गुरुके ये लक्षण कहे गये।

प० प० प्र०—३ **'विवेकजलधेः आनन्ददं पूर्णेन्दुम्'** से सूचित किया कि गुरुरूपी पूर्णचन्द्रकी कृपा-किरणोंके आकर्षण तथा वचनामृतसे विवेकरूपी सागरकी वृद्धि होती है। भाव यह है कि शिष्यके विवेकको जाग्रत्कर उसकी पूर्णवृद्धि करनेकी शक्ति गुरुमें होनी चाहिये। और, गुरुके सान्निध्य तथा दर्शनसे शिष्यको दिनोंदिन प्रसन्नताकी प्राप्ति होनी चाहिये।

प० प० प्र०—४ **'वैराग्याम्बुजभास्करम्'**—यहाँ **'भास्कर'** शब्दसे ज्ञानरूपी **'भास्'** (प्रकाश) भी सूचित किया। भाव कि सद्गुरुरूपी भास्करके ज्ञानरूपी प्रकाशसे वैराग्य प्रकट होने लगता है। सद्गुरुरूपी सूर्यके वचनरूपी किरणोंके स्पर्शसे वह खिलता है। इससे बताया कि गुरुमें यह शक्ति चाहिये कि अपने आचरण तथा उपदेशसे शिष्यके हृदयमें वैराग्यको उत्पन्न कर दे।

प० प० प्र०—५ **'अघघनध्वान्तापहं'** से सूचित किया कि 'गुरुमें शिष्यके पापकर्मोंके विनाश करनेकी शक्ति चाहिये।' निष्काम बुद्धिसे ईश्वरार्पण करनेके लिये जो पुण्य कर्म किये जाते हैं उनसे पापका नाश होता है। अतः गुरुको चाहिये कि स्वयं इस प्रकारके पुण्यकर्मोंका आचरण करके शिष्यको पुण्यकर्मोंमें लगा दे।'

'तापहम्'—सूर्यसे कमल खिलता और अन्धकार नष्ट होता है, पर ताप बढ़ता है। गुरुरूप भास्कर इससे विलक्षण हैं, उनमें त्रितापोंके शमनकी दिव्य शक्ति होती है। अतः इससे बताया कि गुरुमें यह अद्भुत शक्ति होनी चाहिये।

प० प० प्र०—६ **'मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वःसम्भवम्'**—अन्धकार नष्ट होनेपर भी मेघोंका अस्तित्व हो सकता है, सूर्यकिरणोंमें मेघोंके छिन्न-भिन्न करनेकी शक्ति नहीं है, अतः यह रूपक करना पड़ा। वायुसे मेघ उड़ जाते हैं, यथा—***'कबहुँ प्रबल बह मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।'***, **'प्रबल पवन जिमि घन समुदाई।'** अतः इस विशेषणसे सूचित किया कि गुरुमें मोहपटल हटानेकी भी शक्ति होनी चाहिये। **'शंकरम्'** इति। पञ्चक्लेशोंका निवारण किये बिना 'शम्' (कल्याण) हो नहीं सकता। अतः पञ्चक्लेशोंका निर्देश ऊपरके विवेचनमें कर दिया। अघमें अज्ञानसे लेकर राग-द्वेषादि सबका अन्तर्भाव है। **'गुरुं शंकररूपिणम्'** हैं ही।

प० प० प्र०—७ **'ब्रह्मकुलम्'**—ब्रह्म=वेद। और रामायण वेदरूप है; यथा—**'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।'** श्रीरामनामामृत वेदरूपी समुद्र अर्थात् रामायणसे ही निकला है, अतः शिवजीने उसे ले लिया। यथा—**'ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं……'**, **'रामायन सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि।'**……इससे 'ब्रह्मकुल' का अर्थ हुआ रामनामकी परम्परा चलानेवाले। पुनः, ब्रह्म=वेद। और रामनाम वेदका प्राण है अर्थात् वेद ही है।—अतः गुरुजीमें नामनिष्ठा, राममन्त्रानुष्ठानविधिके उपदेश देनेकी विधि इत्यादिका ज्ञान होना चाहिये।

प० प० प्र०—८ **'कलंकशमनम्'**—काम ही कलंक है, यथा—***'अकलंकता कि कामी लहई'*** ***'कामी पुनि कि रहहिं अकलंका'।*** पुनः मत्सर भी कलंक है, यथा—***'मच्छर काहि कलंक न लावा।'*** षड्रिपुकी गणनाका क्रम यह है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर। आदिमें काम है और अन्तमें मत्सर। उपक्रमोपसंहारको कलंक कह देनेसे बीचवालोंको भी कलंक जनाया। इस विशेषणसे जनाया कि गुरुवचनमें ऐसा प्रभाव होना चाहिये कि काम-क्रोधादि सभी कलंक शमन हो जायँ।

प० प० प्र०—९ **'श्रीरामभूपप्रियम्'**—इससे जनाया कि गुरुकी सगुणस्वरूप श्रीरामजीमें प्रेमलक्षणाभक्ति भी होनी चाहिये।

इस श्लोकमें कथित लक्षणोंका ही विस्तार दोहा ४५-४६ में है। श्रीरामगीताके सभी प्रश्नोंका बीज भी इसमें है।

सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं
पाणौ बाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम्।
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथि गतं रामाभिरामं भजे॥ २॥

शब्दार्थ—**सान्द्र**=घना, गहरा, निरन्तर—'**घनं निरन्तरं सान्द्रमित्यमरः।**' (२। १। ६६) **पयोद**=पय (जल) देनेवाले, जलद, मेघ। **तूणीर**=तर्कश। **रामाभिरामम्**=आनन्द देनेवाले रामजी एवं रामा (श्रीसीताजी) को आनन्द देनेवाले। **पथिगतम्**=जो पथिककी अवस्थामें प्राप्त हैं।=जो पथ (मार्ग) में प्राप्त हैं। 'पथि' शब्द '**पथिन्**' की सप्तमीका एकवचन है। **पथि**=पथमें।

अर्थ—सघन (पूर्ण) आनन्द (स्वरूप) अर्थात् आनन्दघन, जलसे भरे हुए (श्याम) बादलोंके समान सुन्दर (श्याम) शरीरवाले, सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए, हाथोंमें धनुष और बाण लिये हुए, श्रेष्ठ (अक्षय) तर्कशके भारसे जिनकी कमर शोभित है (अर्थात् जो अक्षय बाणोंसे पूर्ण अक्षय तर्कशको कटिमें कसे हैं) कमलदलके समान विशाल नेत्रवाले, (मस्तकपर) जटाओंका जूड़ा धारण किये हुए, अत्यन्त शोभायमान श्रीसीता-लक्ष्मणजीसहित मार्गमें जाते हुए, आनन्दके देनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको मैं भजता हूँ॥ २॥

गौड़जी—गोस्वामीजीको रामबटोहीका ध्यान परम प्रिय है, अतः वह अपने आराध्यदेवके प्रिय अपने आचार्य भगवान् शंकरकी वन्दना करके 'पथिगतराम' की आराधना करते हैं।

टिप्पणी—१ (क) अयोध्याकाण्डमें मुनिपट धारण करना कहा था, पर यहाँ मङ्गलाचरणमें '**पीताम्बरं सुन्दरम्**' कह रहे हैं। यहाँ पीताम्बर धारण किये हुए स्वरूपसे मङ्गल करना साभिप्राय है। वीर केसरिया जामा धारण करते हैं। इस काण्डसे राक्षसवध प्रारम्भ हुआ है। अतः वीरका केसरिया वस्त्र पहनना कहा। (ख) जो यहाँ वल्कल धारण किये हैं वे ही पीतवर्णके हैं—'**वल्कलैः पीत अम्बरम्**' अर्थात् पीत वस्त्र है। यथा—'***बलकल बिमल दुकूल।***' (२। ६५) '***बलकल बसन।***' (२। ६२)। (यही अर्थ यहाँ उचित है)।

नोट—१ (क) पंजाबीजी कहते हैं कि पीताम्बर भगवान्‌का एक नाम है, यथा—'**पीताम्बरोऽच्युतः शार्ङ्गी विष्वक्सेनो जनार्दनः**' (अमरकोश १। १। १९) पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज कहते हैं कि यहाँ ग्रन्थकार साक्षात् अपना अभीष्ट वर्णन कर रहे हैं, अतः 'पीताम्बर' कहा। पुनः, वाल्मीकिजीने भी वनकाण्डमें किसी स्थानपर पीताम्बर धारण किये हुए लिखा है। बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ ग्रन्थकारने ऐश्वर्य-माधुर्य-मिश्रितरूपका वर्णन किया है, इसीसे पीताम्बरधर कहा। (ख) पं० शिवलाल पाठकजी मयूखमें लिखते हैं कि '***अब प्रभुचरित सुनहु*******', '***एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निजकर भूषन राम बनाए॥***' इत्यादि। इन सब वचनोंसे चित्रकूटमें रासका प्रसाद (वा प्रासाद) लक्षित होता है।

नोट—२ रामाबाबा (चित्रकूटवाले) का अनुभव है कि किसी कठिनाईके समय या जब ऐसी कोई घटना हो कि जिसमें प्राणान्तक कष्ट हो, उस समय इस श्लोकका ध्यान करनेसे वह कठिनाई निश्चय टल जाती है और मृत्यु हुई तो मुक्ति तो है ही। (श्रीदीनजी)

नोट—३ (क) '**पाणौ बाण······राजीवायतलोचनम्**' इति। मिलान कीजिये—'***पुरुषसिंह दोउ बीर चले हरषि मुनिभयहरन।······***' (१। २०८) '***अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलद तनु स्याम तमाला॥ कटि पटपीत कसे बर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहु हाथा॥***' यह वीररसका स्वरूप है। (ख) '**सुन्दरम्**' इति। श्रीरामजीकी सुन्दरताका क्या कहना? वह सौन्दर्य इसी काण्डमें लोगोंने देखा है। शूर्पणखा और खर-दूषण राक्षस भी इस सौन्दर्यपर मुग्ध हो गये। दण्डकारण्यके ऋषि मोहित हो गये। मुनियोंके हृदय स्त्रीभावको प्राप्त हो गये।

टिप्पणी—२ '**कटिलसत्तूणीरभारं वरम्**' इति। (क) भाव यह कि सब भार अशोभित हैं, पर तरकशका

भार सुशोभित है; यथा—*'सब सुन्दर सब भूषनधारी। कर सर चाप तून कटि भारी॥'* (२। २९८) पुनः इससे जनाया कि यहाँसे अब ये बाण राक्षसोंपर छूटेंगे। (ख) **'वरम्'** कहकर धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ जनाया यथा—मेघनादवाक्य—*'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥'* (६। ४९) (नोट—'वरम्, को 'तूणीरभार' का विशेषण प्रायः अन्य सभी महानुभावोंने माना है। भाव यह है कि इसके बाण अमोघ हैं और यह तूण भी अक्षय है, यह कभी बाणोंसे खाली नहीं होता)।

टिप्पणी—३ **'राजीवायतलोचनम्'** से जनाया कि भक्तोंके लिये सदा कृपासे पूर्ण रहते हैं। भक्तोंके दुःख या भय दूर करनेके सम्बन्धमें सर्वत्र 'राजीव' विशेषण दिया गया है। यथा—*'राजिवनयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥'* (१। १८। १०) देखिये। पुनः, यथा—*'चितइ कृपा करि राजिवनयना।'* (सुं० ३५। २) एवं (३२। १) भी देखिये।

नोट—४ (क) यहाँ वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया गया है। (ख) मनु-शतरूपा-प्रकरणमें 'नीलसरोरुह, नीलमणि और नीलनीरधर श्याम' तीन उपमाएँ श्यामताकी दी थीं। यहाँ उनमेंसे केवल एक 'पयोद' की ही उपमा दी है। कारण कि यहाँ प्रभु मुनियों और भक्तोंके यहाँ जा-जाकर सुख देंगे, यथा—*'सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह।'* (९) मणि और नीलकमल सर्वत्र सुलभ नहीं और मेघ सर्वत्र विचरकर जगत्को जीवनदाता होते हैं। (१। १४६) देखिये। (ग) वर्षा सबको सुखद है पर जवास झुलस जाता है, इसमें वर्षाका दोष नहीं। इसी प्रकार श्रीरामरूपी मेघद्वारा निशाचर-जवासका नाश समझो। यथा—*'बरषि बिस्व हरषित करत, हरत ताप अघ प्यास। तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरै जवास॥'* (दोहावली ३७८)

नोट—५ **'सान्द्रानन्द……'** इति। प्रथमचरणमें शृङ्गारकी शोभा कही। दूसरे चरणमें वीररसकी शोभा कही। तीसरे चरणमें शान्तरसकी शोभा कही। क्योंकि शृङ्गारद्वारा शूर्पणखाको मोहित किया, वीररससे खर-दूषणका वध और शान्तरससे मुनियोंको सुख दिया। यथा—*'जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सब के भय बीते॥'* (२१। १) (खर्रा)

प० प० प्र०—१ सान्द्रानन्दपयोद ही सुभग होता है। यथा—*'भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥'* इससे श्रीशबरीजीकी भक्तिकी सूचना मिली।

प० प० प्र०—२ प्रथम चरणमें शृङ्गाररसका वर्णन होनेसे बहुशः मधुराक्षरोंकी ही योजना की गयी है। दूसरेमें वीररस होनेसे बहुसंख्य वर्ण ओज निर्माण करते हैं। प्रथम शृङ्गार फिर वीररसके वर्णनसे सूचित किया कि प्रथम शृङ्गारके चरित करेंगे; तत्पश्चात् वीररसके। तीसरे चरणका राजिवनयन शृङ्गार और वीर दोनोंका द्योतक है। इस तरह फिर शृङ्गारका निर्देशन करके जनाया कि विप्रलम्भ शृङ्गारके चरित किये जायँगे फिर कुछ वीररसका चरित होगा। इससे कबन्ध-वध सूचित किया। **'धृतजटाजूटेन संशोभितम्'** से शान्तरस और भक्तिकी लीलाएँ (शबरी तथा नारद-प्रसङ्ग) सूचित कीं।

प० प० प्र०—३ इस श्लोकका उपक्रमोपसंहार आनन्दसे ही ('सान्द्रानन्द', अभिराम') करके जनाया कि इस काण्डके आदि और अन्तमें आनन्द-ही-आनन्दकी वर्षा होगी। बीचमें कुछ आनन्दविरोधी चरित दृष्टिगोचर होंगे, पर उनका उपसंहार आनन्दमें होगा।

नोट—६ ग्रन्थकारने अयोध्या, सुन्दर, लंका और उत्तरमें तीन-तीन श्लोकोंमें मङ्गलाचरण किया है, पर अरण्य और किष्किन्धाकाण्डोंमें दो ही श्लोकोंसे मङ्गलाचरण किया, इसका कारण यह है कि अयोध्याकाण्डतक श्रीसीता-राम-लक्ष्मण तीनोंका साथ रहा, इससे तीन श्लोकोंमें मङ्गल किया। अरण्यमें श्रीसीताजीका हरण हुआ, किष्किन्धामें भी उनका पता नहीं चला कि वे कहाँ हैं। इससे इन दो काण्डोंमें एक-एक श्लोककी कमी हुई। सुन्दरकाण्डमें प्रथम उनका पता लगा और फिर लंका और उत्तरमें उनका साथ रहा। अतः तीनोंमें पुनः तीन श्लोकोंसे मङ्गलाचरण हुआ।

सो०—उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरिबिमुख न धर्म रति॥

अर्थ—हे उमा! रामगुण गूढ़ है। पण्डित और मुनि उससे वैराग्य प्राप्त करते हैं परन्तु जो विशेष मूर्ख हैं, जो भगवद्विमुख हैं और जिनका धर्ममें प्रेम नहीं वे मोहको प्राप्त होते हैं।*

टिप्पणी—१ इस काण्डके प्रारम्भमें ही शिवजी पार्वतीजीको सावधान करते हैं कि इसी काण्डके चरित्रसे तुमको दण्डकारण्यमें मोह हुआ था, अब सावधान रहना क्योंकि आगे संदेहके बहुत-से चरित मिलेंगे; अब संदेह न कर बैठना।

टिप्पणी—२ अयोध्याकाण्डमें किसीका संवाद नहीं है, इसीसे वहाँ किसीका सम्बोधन कविने नहीं दिया। और यहाँ आदिमें ही 'उमा' सम्बोधन दिया गया। कारण कि भरतचरितमें किसीको मोह नहीं है। वहाँ गोसाईंजीने केवल प्रेमका ही वर्णन किया है, इसीसे वहाँ किसीका संवाद नहीं है। और श्रीरामचरितमें सबको संदेह हुआ है अर्थात् सती, भरद्वाज और गरुड़ तीनोंको मोह प्राप्त हुआ। इसीसे यहाँ प्रथम छः दोहोंमें तीनों वक्ताओंने तीनों श्रोताओंका समाधान किया है। यथा—*'उमा राम गुन गूढ़', 'सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥'* (३। २। ८) *'सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना।'* (३। २। ६)। यहाँ उमाको ही प्रथम कहा क्योंकि इस काण्डमें इन्हींको मोह हुआ है। पुनः भाव यह कि अयोध्याकाण्डके अन्तमें कहा है कि *'भरतचरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयरामपद प्रेम अवसि होइ भवरस बिरति॥'* (२। ३२६) अर्थात् भरतचरितके श्रवणसे अवश्य वैराग्य होता है। अब शिवजी कहते हैं कि वैसा ही रामचरितको न जानो, यह गूढ़ है। इससे केवल मुनियों और पण्डितोंको वैराग्य होता है, सबको नहीं।

टिप्पणी—३ *'राम गुन गूढ़ पंडित मुनि·······'* इति। (क) गूढ़, यथा—*'श्रोता बक्ता ग्याननिधि कथा राम कै गूढ़। किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित बिमूढ़॥'* (१। ३०) *'चाहहु सुनइ रामगुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा॥'* (१। ४७। ४) (ख) गूढ़ कहा क्योंकि चरित तो है वही एक, पर उसीसे किसीको तो मोह होता है और किसीको वैराग्य उत्पन्न होता है। मोह और वैराग्य परस्पर विरोधी बातें हैं, जहाँ वैराग्य है वहाँ मोह नहीं और जहाँ मोह है वहाँ वैराग्य नहीं, यह (गूढ़ता) दोनोंकी उत्पत्तिका कारण है। तात्पर्य यह कि गूढ़ है इसीसे तो किसीको कुछ भासित होता है और किसीको कुछ, यदि गूढ़ न होता तो सबको एक-सा ही भासित होता। यहाँ 'प्रथमव्याघात अलङ्कार' है। (ग) गूढ़-अति गुप्त आशययुक्त, जो बुद्धिमानोंको भी कठिनतासे समझमें आता है। *'पावहिं बिरति'* अर्थात् अन्यविषयक प्रीतिसे विरक्त हो जाते हैं। पुनः, (घ) 'रामगुन गूढ़' का भाव कि जैसे नारद और ब्रह्माजी आदिके वचन-हेतु आप छिपे हैं वैसे ही गुणको भी छिपाये हैं।—विशेष नोट १, २ में देखिये।

नोट—१ 'गूढ़ उसको कहते हैं जो गुप्त हो, यथा—*'बंदउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि रामपद गूढ़ सनेहू॥'* श्रीविदेहजी महाराज वात्सल्यभाव रखते हुए ऐश्वर्य-माधुर्य दोनोंके यथार्थ ज्ञाता हैं; इसीसे कविने कहा कि *'जोग भोग महँ राखेउ गोई।'* (१। १७) योगसे ऐश्वर्य और भोगसे माधुर्य झलकता है। ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों एक-दूसरेके विरोधी हैं। माधुर्य देखकर ऐश्वर्यका पता ही नहीं चलता। उससे गरुड़जी, भुशुण्डिजी और सतीजीको मोह हो गया। इसी तरह ऐश्वर्यका स्मरण करके माधुर्यमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। यथा—*'सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।'* (१। ५०) *'खोजइ सो कि अग्य इव नारी।'* (१। ५१) इन्हीं ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंमें छिपा होनेके कारण 'गूढ़' कहा। (रा० प्र० श०)।

नोट—२ इन शब्दोंसे यह भी जनाया कि यह भी सन्देह न करना कि जो स्वयं प्रिय परिजनके वियोगमें बिलख रहे हैं उनकी पादुका आज्ञा कैसे देती होगी? (खर्रा)।

टिप्पणी—४ *'पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख·······'* इति। (क) अब 'विमूढ़' का लक्षण बताते हैं कि ये हरिपदविमुख होते हैं और इनका धर्ममें प्रेम नहीं है, इसीसे इनको वैराग्य नहीं होता। धर्ममें तत्पर

* अर्थान्तर—'हे उमा! रामका गुण गूढ़ है अर्थात् गम्भीर है जिससे पण्डित मुनि वैराग्य भी पाते है और मोह भी पाकर विशेष मूढ़ देख पड़ते है, जो हरिसे विमुख नहीं हैं और धर्ममें रत हैं—जैसे सती, गरुड़, नारद आदि'। (पां०)

होते तब तो वैराग्य अवश्य ही होता, यथा—'*धर्म ते बिरति*.......'। पुनः, भाव यह कि चाहे मूर्ख भी होनेपर यदि हरि-सम्मुख होते या धर्ममें प्रीति होती तो मोह न प्राप्त होता, यथा—'*हरन मोहतम दिनकर कर से*', '*जिमि हरिसरन न एकउ बाधा।*' (४। १७। ५) पण्डित=जिसमें सदसद्विवेक हो। यथा—'**सदसद्विवेकिनी बुद्धिः पण्डा**'। मुनि=जो मनन किया करते हैं। अतः मुनि भी पण्डित हुए। [मानसमें 'पण्डित' शब्द प्रायः १३ बार आया है। जिनमेंसे वक्ताओंके मतसे 'पण्डित' के क्या लक्षण हैं यह स्पष्ट रीतिसे दो स्थलोंमें इस तरह बताया है—'*सोइ सर्बज्ञ तज्ञ सोइ पंडित।*'.......'*जाके पद सरोज रत होई॥*' (७। ४९। ७-८) (यह श्रीवसिष्ठवाक्य है), '*सोइ महिमंडित पंडित दाता।*'.......'*रामचरन जाकर मन राता॥*' (७। १२७। १-२) अर्थात् जिसका श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग हो वही 'पण्डित' है। मानसमें यह विशेषण श्रीसुमन्त्रजी, श्रीदशरथजी, श्रीअयोध्यापुरवासियों तथा श्रीरामजीके लिये एक-एक स्थलपर प्रयुक्त हुआ है। यथा—'*तुम्ह पंडित परमारथ ग्याता।*' (२। १४३। २) '*महाराज तुम्ह पंडित ग्यानी।*' (२। १५०। ३) '*सब गुनज्ञ पंडित सब ग्यानी।*' (७। २१। ८) '*खरदूषन बिराध बध पंडित।*' (७। ५१। ५)] पुनः, (ख) '*बिमूढ़*', '*हरिबिमुख*' और '**न धरम रति**' से जनाया कि ज्ञान, उपासना और कर्मकाण्डत्रय रहित हैं। जहाँ ज्ञान चाहिये वहाँ ये विमूढ़ है, जहाँ उपासना चाहिये वहाँ हरिविमुख हैं और जहाँ कर्म चाहिये वहाँ धर्ममें प्रीति ही नहीं। पुनः, (ग) भाव कि केवल मूढ़ हो तो उसे रामजी सँभालते हैं पर जिनमें श्रीरामसम्मुखता और धर्ममें प्रेम—ये अन्य दो बातें नहीं हैं वे नहीं सँभाले जा सकते। (घ) ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है। यथा—'*कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई॥*' (३। ३९। २) '*गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुज बिमोहनसीला॥*', '*असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥*' (७। ७३। १) '*राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥*' (२। १२७ वाल्मीकि)

प० प० प्र०—'*पंडित मुनि पावहिं बिरति*।.......' इति। यहाँ तो मुनियोंको वैराग्यकी प्राप्ति चरितसे कह रहे हैं, पर अन्यत्र यह वाक्य आये हैं—'*सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ।*' (७। ७३) '*देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदय अपारा॥*' (७। ४८। ४) '*राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥*' (२। १२७। ७) आपाततः देखनेसे इनमें परस्पर विरोध जान पड़ता है।

समन्वय इस प्रकार होता है। (७। ७३) में मुनिको मोह होना कहा है, वहाँ 'पण्डित' शब्द साथमें नहीं है। इस काण्डमें 'पण्डित मुनि' को विरतिकी प्राप्ति कही है। 'पण्डित' को 'मुनि' का विशेषण मानना चाहिये। ज्ञान होनेपर भी जो श्रीरामजीका भजन करते हैं वे ही पण्डित हैं। यथा—'*यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ग्यान भगति नहिं तजहीं॥*' (३। ४३। १०) '*सोइ सर्बज्ञ तज्ञ सोइ पंडित।* ....*जाके पद सरोज रति होई॥*' (७। ४९। ७-८)—इस तरह भाव यह है कि जो केवल मुनि (अर्थात् ज्ञानी) होते है (यथा—'*बसहिं ग्यानरत मुनि संन्यासी।*' (७। २८। ५), उनको भ्रम होता है।

वाल्मीकिजीके वाक्य (२। १२७। ७) में 'जड़' और 'बुध' शब्द हैं। 'जड़' की व्याख्या मानसमें इस प्रकार है—'*जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥* '*ते जड़ कामधेनु पय त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥*' (७। ११५। १-२) इस प्रमाणसे सिद्ध हुआ कि 'जड़' का विरोधी शब्द 'पण्डित' है और पण्डित तथा बुध समानार्थक शब्द हैं। तथापि इस सोरठेके आधारपर 'बुध' में ज्ञान और भक्ति—दोनोंका अस्तित्व मानना चाहिये। सारांश यह है कि जो ज्ञान होनेपर भक्तिका त्याग नहीं करते और जो भक्ति प्राप्त होनेपर ज्ञानका त्याग नहीं करते उनको लीला देख-सुनकर वैराग्य होता है।

अब रहा वसिष्ठवाक्य (७। ४८। ४) वे पण्डित (भक्त) और मुनि (ज्ञानी) दोनों हैं। तब उनको मोह क्यों होता है? गरुड़जी, नारदजी तथा भुशुण्डिजी भी तो ज्ञानी और भक्त थे, पर उनको भी मोह हुआ। इससे ऐसा जान पड़ता है कि जबतक ज्ञान और भक्ति दोनों जागृत रहते हैं तबतक गूढ़ चरितसे वैराग्य होता है और जब दोनोंमेंसे एक प्रबल होकर दूसरेको दबाता है तब मोह होता है। गरुड़जी तथा नारदजीमें ज्ञानाहंकारसे भक्ति दब गयी थी और भुशुण्डिजीमें भक्तिकी प्रबलतासे ज्ञान दब गया था।

प० प० प्र०—विमूढ़=विशेष मूढ़। शास्त्रज्ञ, बहुश्रुत, अधीत होनेपर भी जो मूढ़ है वह विमूढ़ है। मूर्खोंको न तो मोह ही होता है और न वैराग्य। यथा—*'भूलहिं मूढ़, न चतुर नर।'* (१। १६१) इनका इतना अहित नहीं होता जितना ऐसे विमूढ़ोंका। 'दासबोध' ग्रन्थमें ऐसे लोगोंको*'पढ़त मूर्ख'* कहा है और उनके लक्षण भी दिये हैं। 'धर्मरति' का अर्थ यहाँ ज्ञान अथवा वैराग्य है, यथा—*'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना, 'ग्यान कि होइ बिराग बिनु'।* इस तरह *'पावहिं मोह""रति'* का अर्थ हुआ कि 'शब्द-पण्डित शास्त्रज्ञ वाद-विवाद-पटु होनेपर भी यदि हरिभक्ति और वैराग्यरहित हैं तो वे विमूढ़ हैं। उनको मोह अवश्य होगा।' इससे भक्तिके साथ ज्ञान और वैराग्यकी भी आवश्यकता बतायी।

नोट—३ यहाँ श्रीपार्वतीजीपर कटाक्ष भी है। (वंदन पाठकजी) यहाँ शिवजी पण्डित और मुनि दोनों हैं। इनको इस वनलीलासे वैराग्य हुआ, यथा—*'एहि तन सती भेंट मोहि नाहीं'।* जो किसीसे भगवत्-सम्मुख होनेकी शिक्षा पाकर भी हरिसम्मुख न हो, वह मूढ़ है, यथा—*'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥'* (४। ९) पुनः जिसकी धर्ममें प्रीति नहीं वह मूढ़ है। ये सब लक्षण सतीजीमें पाये जाते हैं। पतिव्रता होकर वे पतिके प्रतिकूल चलीं, न तो पतिके वचनपर चलीं और न उनपर विश्वास ही किया—शिवजीने प्रणाम किया पर इन्होंने न किया *'करेहु सो जतन बिबेक बिचारी'* पतिकी इस आज्ञापर न चलीं, विश्वास न किया और परीक्षा लेने चलीं। सब लक्षण इनमें घटते हैं; अतः इन्हें मोह हुआ। (रा० प्र० श०)

टिप्पणी—५ *'पंडित मुनि पावहिं बिरति।"""'* इति। श्रीजानकीहरणपर श्रीरामजीको विलाप करते देख पण्डित-मुनिको वैराग्य हुआ कि स्त्रीने रामको भी रुलाया तो उससे प्रीति करना कदापि उचित नहीं, और, विमूढ़को मोह हुआ कि स्त्रीके लिये राम भी रोये हैं अतः वह रखनेलायक वस्तु है।

नोट—४ इस सोरठेमें इस काण्डका चरित संक्षिप्त रीतिसे दरसाया गया है। अतः यहाँ 'मुद्रालंकार' भी है। आदिमें जयन्तका मोह और अन्तमें नारदका वैराग्य कहा ही है—(वै०)।

श्रीपार्वतीजीका 'बन बसि कीन्हे चरित अपारा'—प्रकरण

श्रीभुशुण्डिजीका 'सुरपति-सुत-करनी'—प्रकरण

पुर नर* भरत प्रीति मैं गाई। मति अनुरूप अनूप सुहाई॥ १॥

अर्थ—पुरवासियों और श्रीभरतजीकी उपमारहित सुन्दर प्रीतिको मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन किया॥ १॥

नोट—१ *'पुरनर भरत'* इति। पं० शिवलालजीका पाठ 'पुरजन' है। 'पुरनर' पाठ १७०४, १७२१, छ०, १७६२ इत्यादिमें है। इनसे अधिक प्राचीन कोई और पोथियाँ देखनेमें नहीं आयीं। 'पुरजन' और 'पुरनर' पर्याय हैं। यहाँ 'नर' शब्द 'नर और नारि' दोनोंका उपलक्षक है। पुरनर=पुरलोग, पुरवासी, अवधपुरीके सभी स्त्री-पुरुष। गौड़जीके मतानुसार 'पुर-नर=पुर (अयोध्या) की, नर (लक्ष्मणजी) की।' पुनः, पुरजन=पुर (अवध) का और जन (अवधवासियों) का। (मा० शं०)।=पुर, जन (शेषजी) एवं पुरजनका (मा० म०)। =पुरवासियोंका। और, अयोध्याकाण्डमें पुरवासियों और भरतजी दोनोंका ही प्रेम आदिसे अन्ततक वर्णित है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनोंमें पुर-नर-प्रीति दिखायी गयी और उत्तरार्द्धमें श्रीभरतजीका प्रेम दिखाया गया। अवधपुरीभरके जीवोंका भी प्रेम दरसाया गया है। इनके उदाहरण कुछ दिये जाते हैं, यथा—(१) *'करहिं प्रनाम नगर नरनारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी॥ करि मज्जन मागहिं कर जोरी। रामचंद्रपद प्रीति न थोरी॥'*

---

* पाठान्तर—'पूरन' (पां०)। 'पुरजन'—(पं० शिवलाल पाठक)। 'पूरन' पाठसे पाँडेजी यह अर्थ करते हैं—'अनूप और सुहाई भरतकी प्रीतिसे पूर्ण अयोध्याकाण्डको०'। पुनः इसका अर्थ यह होगा कि—'भरतजीकी परिपूर्ण प्रीति मैंने गायी'। बाबा हरीदासजी कहते हैं कि पूर्वार्द्धका सम्बन्ध 'मति अनुरूप' से है। भाव कि पूर्ण प्रीति मैंने नहीं गायी, मति अनुरूप उनकी पूर्ण प्रीतिको कुछ गाया है। पूर्ण प्रीति, यथा—'सियराम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को। २। ३२६।'

(२) *'लागति अवध भयावनि भारी। मानहु कालराति अँधियारी॥ घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥' 'घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥ बागन बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥'* (२। ८३) (३) भरतागमन—*'श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगर बिसेषि भयावनु लागा''''''।'* (२। १५८) *'हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दह दिसि लागि दवारी॥'* राम बिना यह दशा थी और उनके आनेपर—*'अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा की खानी॥'* (७। ३) *'पुर नरनारि मगन अति प्रीती। बासर जाहिं पलक सम बीती॥'* (४) *'रामदरस लगि लोग सब करत नेम उपवास। तजि तजि भूषन भोग सुख जिअत अवधि की आस॥'* (अ० ३२२) इत्यादि।

अथ भरतप्रीति- (१) *'कुस साथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाई॥ चरनरेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥'* (२। १९९) (२) *'सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥ करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥'* (२। २३८) (३) *'मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी॥'* (२। २४१) *'अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को॥'* (२। २४१) (४) *'नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति। मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति॥'* (अ० ३२५) इत्यादि।

पुरका प्रेम, यथा—*'लागति अवध भयावनि भारी।''''''*' (उपर्युक्त)। पशु (घोड़े आदि) और पक्षियोंका प्रेम उनकी दशाद्वारा दिखाया गया है।

टिप्पणी—१ (क) *'पुरनर भरत प्रीति''''''*' ऐसा कहकर पूर्व काण्डसे इस काण्डका सम्बन्ध मिलाया। (ख) 'पुर-नर' पद प्रथम दिया क्योंकि अयोध्याकाण्डमें भरतागमनके पूर्व आधे काण्डमें इन्हींका प्रेम दिखाया गया है और भरतागमनसे उत्तरार्द्धमें भरतप्रेमका वर्णन हुआ। सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड प्रेमसे भरा है। पुरवासियोंसे भरतजीका प्रेम अधिक जनानेके लिये इनको उनसे पृथक् करके यहाँ लिखा।

नोट—२ 'अयोध्याकाण्डके पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें पुरवासियोंकी प्रीति और उत्तरार्धमें श्रीभरतजीकी प्रीतिका वर्णन है। श्रीरामचरितको छोड़कर इनके चरित्र वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता थी?' इस शङ्काको उठाकर उसका उत्तर मा० अ० दी० कार लिखते हैं कि श्रीरामप्रेमकी सिद्धिकी प्राप्तिके हेतु ऐसा किया गया। यथा—*'भरत चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयरामपद प्रेम अवसि होइ''''''॥'* अयोध्याकाण्डमें श्रीभरतजी तथा श्रीअवधवासियोंमें रामप्रेम भरा हुआ दिखाया गया है, परन्तु फलश्रुतिमें केवल *'भरत चरित'* शब्द दिये गये थे, उसकी पूर्तिके लिये यहाँ भरतचरितके साथ 'पुरजन' का भी नाम दिया गया। इस प्रकार यह जनाया कि भरतजी मुख्य हैं, पुरजन गौण हैं। भरतजी तो श्रीराम-प्रेमकी मूर्ति ही हैं।

टिप्पणी—२ *'मैं गाई'* इति। 'गाई' से जनाया कि जैसे प्रेमके चरित गानेयोग्य हैं वैसे ही जीवों और भागवतोंका उज्ज्वल प्रेम और प्रेम रंगमें रँगा हुआ चरित भी गान करनेयोग्य है।

नोट—३ पण्डित श्रीरामकुमारजीके एक पुराने खर्रेमें ऐसा लेख है कि 'इस काण्डके आदिमें कविके *'मैं गाई'* पदसे यह सिद्ध होता है कि अयोध्याकाण्डको गोसाईंजीने सब वक्ताओंसे पृथक् करके स्वयं गाया है। इसीसे इसमें किसीका संवाद नहीं रखा गया। दस हजार श्लोकका चौथाई अढाई हजार (श्लोकोंका) यह काण्ड गुसाईंजीके हिस्सेका है। इसीसे इस काण्डको कविने सब काण्डोंसे विलक्षण रचा है।' पर ऐसा जान पड़ता है कि यह मत उन्होंने बदल दिया इसीसे साफ खर्रोंमें यह भाव न दिया। एवं पूर्व जो भाव उनका इस विषयमें ऊपर सोरठेमें लिखा गया उसमें विरोध भी पड़ता है। पुनः, एक और खर्रेमें वे लिखते हैं कि 'शिवजी कहते हैं कि मैंने अपनी मतिके अनुसार गाया है। मैं गवैयोंमें हूँ।' यह भाव गौड़जीके मतसे मिलता है। उनका मत इस विषयमें यह है कि—यहाँ 'मैं' भगवान् शङ्कर अपने लिये कह रहे हैं। कवि अपने लिये नहीं कहता। इस बातको 'उमा' सम्बोधनद्वारा सोरठेमें ही स्पष्ट कर दिया। *'भरत प्रीति मति अनुरूप गाने'* का एकरार 'ईश्वर' ही कर सकते हैं। *'अगम सनेह भरत रघुबरको। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को॥'* अतः शिवजीकी भी मति वहाँतक जा नहीं सकती। हाँ, यह ईश्वरी

शक्ति है कि *'मति अनुरूप'* कह सकते हैं। कविने तो बारम्बार अपनी मतिकी असमर्थता बखानी है। यह कहना ठीक नहीं है कि अवधकाण्ड गोस्वामीजीने सब वक्ताओंसे पृथक् करके गाया है। इसमें चारों वक्ता शामिल हैं, जिनमेंसे अन्तिम वक्ता, कविके गुरु (मानसकार शङ्करके मानसी शिष्य नरहरि) के चरण-सरोज-रजकी कृपासे कविने शिवजीके कहे विमल यशको मानसके अनुसार गाया है। बाबा रामप्रसादशरणजीका मत है कि 'मैं' से समझना चाहिये कि चारों वक्ता अपने-अपने श्रोताओंसे ऐसा कह रहे हैं।

टिप्पणी—३ *'मति अनुरूप'* इति। (क) *'गाई'* से यह सन्देह होता है कि विस्तारसे एवं पूर्ण रीतिसे कही है। अत: उसके निवारणार्थ *'मति अनुरूप'* पद दिया। अर्थात् उनके प्रेमका वर्णन पूर्णरूपेण कोई नहीं कह सकता, मैं कैसे कहता? हाँ, जैसी कुछ बुद्धि है वैसा कुछ कहा। (ख) 'मति अनुरूप कहूँगा या कहा' ऐसा कहना बड़ोंकी चाल है, रीति है। गोस्वामीजी, याज्ञवल्क्यजी, शिवजी, भुशुण्डिजी, विभीषणजी आदिने भी ऐसा ही कहा है। यथा—*'मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ। सुमिरि भवानी संकरहि कह कबि कथा सुहाइ॥'* (१। ४३) (गोस्वामीजी), *'कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संवाद।'* (१। ४७)।'(याज्ञवल्क्यजी), *'तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥'* (१। ११४।) (शङ्करजी), *'नाथ जथा मति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ।'* (७। १२३) (भुशुण्डिजी),*'जौं कृपालु पूछेहु मोहि बाता। मति अनुरूप कहउँ हित ताता॥'* (५। ३८) (विभीषणजी)। (ग) इससे यह भी जनाया कि जैसे भगवत्-चरित अथाह अतएव अकथनीय है वैसे ही भागवतचरित भी अगाध है। यथा—*'सागर सीपि कि जाहिं उलीचे।'* (२। २८३) 'एवं *'जथामति भाषेउँ ......। चरित सिंधु रघुनाथ कर थाह कि पावइ कोइ॥'*

टिप्पणी—४ *'अनूप सुहाई'* इति। (क) दो विशेषण देकर प्रीतिके दो भाग किये। पुरनर प्रीति *'सुहाई'* अर्थात् सुन्दर है और भरतप्रीति *'अनूप'* है, यथा—*'जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को', 'मुनि मन अगम जम नियम संजम बिषम ब्रत आचरत को।'* अथवा, (ख) दोनोंका ही प्रेम सुहावना और उपमारहित है। (प्र०, रा० प्र० श०) [गौड़जी *'अनूप'* का अन्वय *'गाई'* के साथ करते हैं। मेरी समझमें दोनों विशेषणोंको *'प्रीति'* और *'गाई'* दोनोंके साथ लेना अधिक उत्तम होगा। (मा० सं०) पुन: *'सुहाई'* इससे कि *'कलिकाल तुलसीसे सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।'* (वि० त्रि०)]

अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर नर मुनि भावन॥ २॥

अर्थ—अब प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका वह अत्यन्त पवित्र देवताओं, मनुष्यों और मुनियोंको भानेवाला चरित सुनो जो वे वनमें कर रहे हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'अब' का भाव कि 'पूर्व भागवतचरित वा 'दासका' चरित कहा, अब 'प्रभु' का चरित कहते हैं। पुन: बालकाण्डमें माधुर्य और ऐश्वर्य कहा, अयोध्याकाण्डमें केवल माधुर्य कहा, अब इस काण्डमें ऐश्वर्य ही प्रधान रहेगा। अत: *'अब प्रभु.....'* कहा। (ख) 'प्रभु' शब्दको काण्डके आदिमें देकर जनाया कि इस काण्डमें प्रभुताके चरित कहे गये हैं। एवं यह कि इस काण्डमें 'प्रभु' शब्दका प्रयोग बहुत हुआ है। प्रभु=समर्थ। यहाँ यह शङ्का होती है कि 'क्या पूर्व विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षा, धनुर्भङ्ग, परशुराम-गर्व-हरण आदि प्रभुत्वके चरित न थे?' इसका समाधान यह है कि वे चरित विश्वामित्रजीके साथमें रहनेके समय हुए। यद्यपि वे चरित ऐश्वर्यद्योतक थे तथापि वे माधुर्यका रंग लिये हुए थे और मुनिके प्रभावके कारण छिपे हुए थे। यथा—*'केवल कौसिक कृपा सुधारे।'* (१। ३५७) और अब जयन्त-खर-दूषणादिके प्रसङ्गमें ऐश्वर्यका छिपानेवाला कोई साथ नहीं है। विशेषत: जयन्तके चरितकी समाई तो कहीं नहीं हो सकती।

नोट—१ (क) 'अब' में यह भाव है कि इससे पहिले जो चरित वर्णन किये गये हैं वह सब अयोध्याजीसे सम्बन्ध रखनेवाले थे और वनवासके आरम्भके ही थे। जब सब लोग लौट गये, तब बहुत

कालतक श्रीरघुनाथजी चित्रकूटमें निवास करते रहे। वर्षोंका ठीक परिमाण नहीं दिया गया। परन्तु रहे कई वर्ष। अन्तमें अपने वनवासकी मर्यादाके भीतर जान पड़ता है कि भगवानने रासकी रचना की। देवताओंको यह रंग देखकर सुबहा (सन्देह) हुआ कि शायद हमारा काम भूल गये। वे घबराये। परन्तु किसीकी हिम्मत न पड़ी कि याद दिलावें। जयन्तने अपने मनसे मोहवश परीक्षा लेने और चेतावनी देनेका काम किया। सतीकी तरह परीक्षाकी विधिमें वह चूक गया। उसका फल पाया। इस तरहके नाना चरित चित्रकूटमें बसकर भगवान्ने किये। अन्तमें *'होइहि भीर सबहि मोहि जाना'* इसी विचारसे चित्रकूट छोड़कर आगे बढ़े। अत्रिजीसे विदा लेनेपर चित्रकूटका प्रकरण समाप्त होता है; इसीलिये उस स्थलपर फलश्रुति और चित्रकूट-चरितोंका अन्त है। (गौड़जी) (ख) बालकाण्डमें स्वतन्त्र ऐश्वर्य-चरित भी है। जैसे, जन्मकालमें माता श्रीकौसल्याजीको दर्शन, फिर दूसरी बार अन्नप्राशन-संस्कारके समय श्रीरंगमन्दिरमें—*'निज अद्भुत रूप अखंड।'* (१। २०१) का दर्शन। वसिष्ठजीसे पढ़ने गये तो *'अलप काल विद्या सब आई।'* (१। २०४) धनुषयज्ञमें भी *'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'* (१। २४१) इत्यादि। अतः बालकाण्डमें माधुर्य-ऐश्वर्य है। अरण्यकाण्डमें श्री-विरहादि प्रकरणमें माधुर्य है परन्तु प्रधानता ऐश्वर्यकी है। (गौड़जी) इस काण्डमें प्रधानतया प्रभुताके चरित कहे गये हैं; इसीसे यहाँसे अब 'लषन', 'सीय' नामके बदले 'लछिमन' 'सीता' आदि ऐश्वर्यसम्बन्धी नाम देंगे। (पं० रा० कु०)

टिप्पणी—२ *'अति पावन'* इति। (क) भरतचरितको परम पुनीत कह आये हैं, यथा—*'परम पुनीत भरत आचरनू।'* (२। ३२६) अतएव प्रभुचरितको भी अतिपावन कहा। *'अति पावन',* यथा—**'पावनं पावनानाम्', 'पवित्राणां पवित्रोऽयम्'** अर्थात् जो पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाला है। (ख) यदि 'पावन' ही कहते तो भरत-चरितकी अपेक्षा इस चरितमें न्यूनता जान पड़ती। इसीसे दोनोंको अत्यन्त पावन कहा। इस काण्डके अन्तमें केवल 'पावन' पद दिया गया है, यथा—*'रावनारि जसु पावन गावहिं',* क्योंकि वहाँ सन्देह उठनेकी कोई बात नहीं है और यहाँ अभी-अभी भरत-चरितको परम पुनीत कहा है इससे शङ्का हो सकती थी। (पुनः 'अतिपावन' प्रारम्भमें कहकर इसके कथन-श्रवणका भी वही फल जना दिया जो काण्डके अन्तमें कहा है—*'रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग।'*) पुनः, भाव कि अन्य धर्म, तीर्थ आदि *'पावन'* हैं और यह प्रभुचरित *'अति पावन'* है। पुनः, [(ग) *'प्रभुचरित'* और *'अति पावन'* का भाव कि काव्यके नवों रसोंके नवरंग एकके उपरान्त एक अत्यन्त शोभा देते हैं। उसमें विचित्रता यह है कि रजोगुणकी झलक होते हुए भी *'अति पावन'* है; अर्थात् सत्त्वगुणवत् पवित्र करनेवाला है, अन्य किसी साधनसे इतनी पवित्रता कदापि सम्भव नहीं। (रा० प्र० श०) पुनः, (घ) इस काण्डमें कितने ही अपावन पावन होंगे, जैसे गृद्ध, शबरी आदि। अतः *'अति पावन'* सहेतुक विशेषण है। (पां०) पुनः, *'प्रभुचरित'* का भाव कि अभीतक सेवकका चरित कहा अब प्रभुका कहते हैं। *'अति पावन'* का भाव कि चित्रकूटमें बसते हुए जो चरित अबतक करते रहे (यथा—*'एहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग मृग सुर तापस हितकारी॥'* (२। १४२। ३) [वे पावन थे और अब खग-मृगके स्थानमें नरका हित होने लगा, अतः यह अतिपावन है। अथवा, भक्तिका शृङ्गाररसके योगसे अत्यन्त उत्कर्ष हो उठता है, इसलिये *'अति पावन'* कहा (वि० त्रि०)]।

टिप्पणी—३ (क) *'करत जे बन'* इति।—प्रथम चौपाईमें *'पुर'* शब्द आदिमें देकर उस चरितको अयोध्याकाण्डका जनाया और यहाँ दूसरीमें *'बन'* पदसे अरण्यकाण्डका चरित जनाया। पुनः, 'वन' से यह भी जनाया कि जो चरित अब कहेंगे वह वनमें किये गये हैं। इस प्रकारसे 'वन' से चित्रकूटका भी ग्रहण हुआ, क्योंकि आगे जयन्त आदिका चरित कहा है जो चित्रकूटमें ही हुआ। यथा—*'रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किए श्रुति सुधा समाना॥'* (३। ३। १) *['करत जे बन',* इस वनचरितके सम्बन्धसे इस काण्डका अरण्य नाम पड़ा। (पां०)] (ख) *'सुर नर मुनि भावन'* इति। भाव कि सुर रजोगुणी, नर तमोगुणी और

मुनि सत्त्वगुणी होते है। तीनोंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है तथापि प्रभुका यह चरित तीनोंको 'मनभावन' है। यह विचित्रता है, क्योंकि जो चरित्र राजसी और तामसी प्राणियोंको रुचता है वह सात्त्विकीको नहीं भाता, पर यह सबको भाता है। यथा—*'जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते॥'* (२१। १) अत: सबको 'भावन' कहा। अथवा, (ग) रघुनाथजी यज्ञादि करते हैं यह सुर-भावन है, पितृभक्तिरूपी धर्मका पालन करते हैं यह नरभावन है और मुनियोंके-से आचरण और वेष धारण किये हुए मुनियोंकी रक्षामें तत्पर हैं, उनके यहाँ जा-जाकर उनको सुख दे रहे हैं अत: मुनिभावन हैं—(यहाँ यज्ञसे मुनियोंके साथ यज्ञ-हवन आदि जो करते हैं वह और राक्षसोंके साथ समरयज्ञ, दोनों अभिप्रेत हैं)।

नोट—२ (क) सुर-नर-मुनि तीनोंको निज स्वार्थ प्रिय हैं, यथा—*'सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥'* स्वार्थप्रिय होनेका कारण है मायासे मोहित होना। ये सब मायासे मोहित हैं, यथा—*'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल'*। प्रभुके वनचरितसे इन सबका स्वार्थ सिद्ध होगा, अत: सबको प्रिय कहा। (ख) *'भावन'* कहकर उदाहरणमें जयन्तका उत्पात प्रारम्भ करते हैं। जयन्त इन्द्रका पुत्र है इसको *'प्रभु छाड़ेउ करि छोह'*, अत: इन्द्रादि सब सुरोंको भाया, नारदमुनिने उसको क्लेशसे बचनेका उपाय बताया। उसका दु:ख दूर देख वे सुखी हुए—*'परदुख दुख सुख सुख देखे पर'*। और 'नर भावन' क्योंकि वनचरित श्रवण-कथनका फल है कि *'रामभगति दृढ़ पावहीं बिनु बिराग जप-जोग'*। (रा० प्र० श०)

पुन:, जयन्तपर कृपा की, खर-दूषणादिका वध किया इत्यादि कारणोंसे 'सुर भावन', यथा—*'हरषित बरषहिं सुमन सुर बाजहिं गगन निसान॥'* (२०) शबरीजी और जटायु आदिकी गति देखकर 'नरभावन' और शरभङ्गजीकी गति, निशाचरहीन करनेकी प्रतिज्ञा और मुनियोंके आश्रमोंमें जा-जाकर सबको सुख दिया, अत: 'मुनिभावन' हैं, यथा—*'रिषिनिकाय मुनिवरगति देखी। सुखी भये निज हृदय बिसेषी॥'* (९। ३) *'निसिचरहीन करउँ महि""सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥'* (९)

३—यहाँतक चरितका माहात्म्य कहा। आगे चरित कहते हैं।

एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥ ३॥
सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिकसिला पर सुंदर*॥ ४॥

शब्दार्थ—चुनि=चुनकर, तोड़कर। **फटिक**=स्फटिक मणि। यह श्वेत रंगका एक पारदर्शक पत्थर है।

अर्थ—एक बार सुन्दर फूलोंको चुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अपने हाथोंसे आभूषण (गहने जैसे शीशफूल, नूपुर, बिछवे, गुलूबन्द, कङ्कण, कड़े, चन्द्रिका इत्यादि) बनाये॥ ३॥ प्रभुने आदरपूर्वक सीताजीको पहनाये और सुन्दर स्फटिकशिलापर बैठे॥ ४॥

नोट—१ (क) *'एक बार'* से जनाया कि इस प्रकार शृङ्गार अनेक बार हुआ, पर उनमेंसे एक ही बार ऐसा हुआ कि *'सुरपतिसुत""'*। *'एक बार'* का ऐसा प्रयोग पूर्व भी बहुत बार हुआ है। यथा—*'एक बार भरि मकर नहाए। सब मुनीस आश्रमन्ह सिधाए॥'* (१। ४५। ३) *'एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं॥'* (१। ४८। १) *'एक बार आवत सिव संगा।'* (१। ९८। ७) *'एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ। तरु बिलोकि उर अति सुखु भयऊ॥'* (१। १०६। ४) *'एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलना पौढ़ाए॥'* (१। २०१। १) इत्यादि। प्राय: १४ बार यह शब्द बालमें आया, अयोध्यामें इसका पर्याय *'एक समय'* आया, यह शब्द नहीं आया। *'बनाए'* बहुबचन क्रिया देकर जनाया कि प्रत्येक अंगके भूषण बनाये। *'सुहाए'* से यह भी सूचित किया कि रंग-बिरंगके सुन्दर फूल चुने गये, जिसमें

* १—'भादर' पाठ पाँड़ेजीका है। सब प्राचीन पोथियोंमें 'सुंदर' पाठ है। 'परभाधर' एक शब्द मानकर 'शोभाके धारण करनेवाले' ऐसा अर्थ उन्होंने किया है। पंजाबीजी, करुणासिंधुजी और बैजनाथजीने भी 'परभादर' ही रखा है। अर्थात् कान्तिमान्। २—मिलान कीजिये वाल्मीकीयके 'आबद्धवनमालौ तौ कृतापीडावतंसकौ। भार्यापतीं तावचलं शोभयाञ्चक्रतुर्भृशम्॥' (२। ८५। ३१) (प्रक्षिप्त है)।

जिस भूषणमें जहाँ जिस रंगकी आवश्यकता हो वहाँ उसी रंगका फूल लगा सकें। (ख) *'एक बार चुनि कुसुम*.......' से श्रीरामजानकी-विहार सूचित किया जो चित्रकूटमाहात्म्यमें वर्णित है। बृहद्रामायणोक्त चित्रकूटमाहात्म्यमें ऐसा लिखा है—'**चित्रकूटसमं नास्ति तीर्थं ब्रह्माण्डगोलके। यत्र श्रीरामचन्द्रोऽसौ सीतया सहितः सुधीः॥ विमलादिसखीयुक्तस्त्वणिमादिविभूतिभिः। सप्तावरणसंयुक्ते मन्दिरे रत्नभूषिते॥ पर्वत्यान्तरालेऽसौ विहारं कुरुते सदा**.......'। (ग) यह कथाप्रसङ्ग एकान्त समयका है। यहाँ *'सादर'* पद परमगोप्य-रहस्य-सूचक है, यथा—*'सिय अंग लिखैं धातुराग, सुमननि भूषन बिभाग, तिलक करनि का कहौं कलानिधान की। माधुरी बिलास हास, गावत जस तुलसिदास, बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की॥'* (गीतावली २। ४४) वही समय शक्र-सुत-कथा-प्रसंगका है, यथा—*'सुरपतिसुत धरि बायस बेषा।*.......'। उस समग्र पूर्वापर प्रसङ्गको पूज्य कविने सुन्दरकाण्ड दोहा (२७। ५) में केवल 'शक्र-सुत-कथा' कहकर जनाया है। (मा० त० सु०) किंतु वाल्मीकिजीने स्पष्टरूपसे कहा है; यथा—'**अभिज्ञानं च रामस्य दद्याद् हरिगणोत्तम। क्षिप्तामिषीकां काकस्य कोपादेकाक्षिशातनीम्॥ मनः शिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः। त्वया प्रणष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि॥**' (सु० स० ४०। ४-५) अर्थात् हे वानरोत्तम! तुम श्रीरामचन्द्रजीको उस काकके नेत्र फोड़नेवाली पहचान अवश्य बतलाना और कहना कि जब एक बार मेरा तिलक मिट गया था तब आपने मेरे गालोंपर मैनसिलका तिलक लगा दिया था; उसका भी स्मरण कीजिये। दीनजी कहते हैं कि नवलकिशोर प्रेसका छपा हुआ एक '**अवधविलास**' नामक ग्रन्थ है। उसमें लिखा है कि रघुनाथजीने चित्रकूटमें ९९ रहस्य किये। अन्तिम रहस्य आधा हो गया था कि जयन्तने विघ्न किया। वही आधा रास भगवान्ने कृष्णावतारमें पूरा किया। बैजनाथजी लिखते हैं कि किसी समय जयन्तकी स्त्री रासमें प्रभुको देखकर मोहित हो श्रीकिशोरीजीकी सखियोंमें मिलकर यहीं रह गयी—यही देवाङ्गना-तीर्थ प्रसिद्ध है। इसी ईर्ष्यासे जयन्त परीक्षा-हेतु आया। मयूखमें पं० शिवलालजी कहते हैं कि सुर-नर-मुनि सब इस शृङ्गाररंगमें रँग गये, पर यह शोभा और सुख जयन्तको अच्छा न लगा, इसी कारण वह विघ्न करनेको उद्यत हुआ।

प० प० प्र०—*'एक बार*.......' इस कथनमें मुख्य हेतु शृङ्गार-लीला-कथन करना नहीं है बल्कि जयन्तने जो कुछ किया उस समय श्रीरामजी क्या कर रहे थे, यह बताना ही मुख्य कारण है। *'सुहाए'* अर्थात् कोमल, सुगन्धित, मनोहर, श्रीसीताजीके शरीरकान्तिके अनुकूल सौन्दर्य और सुख बढ़ानेमें समर्थ। *'निज कर बनाए'* से सूचित किया कि ऐसी लीला श्रीलक्ष्मणजीकी अनुपस्थितिमें ही की जाती थी। 'राम' शब्द क्रीड़ाके सम्बन्धसे दिया।

टिप्पणी—१ (क) *'चुनि कुसुम.......पहिराए प्रभु'* इति। श्रीरामजी *'तापस बेष बिसेष उदासी'* होकर वनवास कर रहे हैं ऐसा ही कैकेयीका वरदान है। अतः वे राजसी भूषण-भोगोंका त्याग किये हुए हैं। इस कारण फूलोंके भूषण अपने हाथसे रचकर बनाते और सब सीताजीको पहनाते हैं। इनको प्रसन्न रखनेके लिये ऐसा करते हैं। (*'कुसुम'* कहकर वसन्त-ऋतु सूचित किया, क्योंकि कुसुम वसन्तमें फूलता है। स्वयं चुने क्योंकि भूषण बनानेवाला ही जान सकता है कि उसे किन-किन फूलोंकी कितनी आवश्यकता है। *'राम बनाए'* से श्रीरामजीकी रसिकता, कलाज्ञान तथा शास्त्रनिष्ठा सूचित की। स्त्रियोंकी पूजा वस्त्र-भूषणद्वारा करनेका शास्त्र-विधान है। (वि० त्रि०) (ख) *'सुन्दर'* का अन्वय सबके साथ है। (ग) एक ओर तो कोमल, सुगन्धित, हलके फूल धारण कराना और दूसरी ओर कठोर शिलापर बैठाना—यह दिखाकर जनाया कि आप कोमलता और कठोरता दोनोंको धारण किये हैं। सज्जनपर कोमल हैं और खलके लिये कठोर, यथा—*'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि। चित खगेस रघुनाथ (राम) कर समुझि परै कहु काहि॥'* (७। १९) पुनः, यथा—*'तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥'* (अ०) (घ) अ० १४०—१४२ में कहा था कि *'नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥.......सीय लषन जेहि बिधि सुखु लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥.......जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसे।'* उसीको यहाँ चरितार्थ कर दिखाया कि अपने हाथों यह सेवा करके उनको अवध-मिथिलाका सुख देते रहते हैं।

नोट—२ (क) पाँडेजीका मत है कि पुष्पोंके भूषण पहनानेका भाव यह है कि रावण दो प्रकारसे प्रबल है। एक इससे कि वह अनादिशक्तिको इष्ट जानता है और दूसरे इससे कि शंकरजीको वह गुरु मानता है। अत: राजनीतिके अनुकूल श्रीरघुनाथजीने गङ्गा उतरकर शंकरजीकी पूजा कर उनको प्रसन्न किया और यहाँ श्रीजानकीजीको प्रसन्न कर रहे हैं। (ख) फूलोंके आभूषण धारण करानेमें यहाँ शृङ्गाररसकी पराकाष्ठा है। (रा० प्र० श०) (ग) *'फटिकसिला'* इति। गीतावलीमें इसका सुन्दर वर्णन है, यथा—*'फटिकसिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल, ललित लता जाल हरति छबि बितान की। मंदाकिनि तटनि तीर मंजुल मृग बिहग भीर, धीर मुनि गिरा गँभीर सामगान की॥ मधुकर पिक बरहि मुखर, सुंदर गिरि निर्झर झर, जलकन घन छाँह, छन प्रभा न भान की। सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ, जनु बिहार बाटिका नृप पंचबान की॥ बिरचित तहँ पर्नसाल, अति बिचित्र लखनलाल, निबसत जहँ नित कृपालु राम जानकी। निज कर राजीवनयन पल्लवदलरचित सयन प्यास परसपर पियूष प्रेम पान की॥'* (२—४) इसीसे *'सुन्दर'* विशेषण दिया। श्रीरामजीको अपना स्वामी जानकर शिलाएँ भी कठोरता छोड़ मृदुल हो गयीं। पुन: श्रीसीतारामजीके निवाससे उसे सुन्दर कहा, यथा—*'सो बनु सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन।'''''''सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू।'* (२। १३९)

प० प० प्र०—*'सुन्दर'* इति। श्रीरामजी **'सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं'** और सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए हैं। श्रीसीताजी तप्तकाञ्चनसन्निभा तेजस्वी गौरवर्ण हैं। स्फटिकशिलापर बैठनेसे श्याम, पीत और गौर वर्णोंके प्रतिबिम्ब तथा श्रीसीताजीके अङ्ग-अङ्गपर चढ़ाये हुए चित्र-विचित्र पुष्पाभरणोंके प्रतिबिम्ब जो शिलामें पड़े हैं उनसे वह कितनी सुन्दर प्रलोभनीय हो रही होगी यह तो *'सोइ जानइ जेहि नयनन्ह देखा।'*

सुरपति सुत धरि बायस बेषा। सठ चाहत रघुपति बल देखा॥५॥
जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महामंद मति पावन चाहा॥६॥

अर्थ—देवराज इन्द्रका पुत्र जयन्त कौवेका वेष धरकर मूर्ख श्रीरघुपतिका बल देखना चाहता है॥ ५॥ जैसे चींटी समुद्रकी थाह लेना चाहे वैसे ही उस महानीचबुद्धि (जयन्त) ने उनके बलकी थाह पानी चाही॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'सुरपति सुत धरि बायस बेषा'* इति। (क) यहाँ उपदेश है। बुरा कर्म करनेवालेकी क्या गति होती है! देखिये तो उसका दर्जा कि कहाँ तो समग्र देवताओंके राजाका पुत्र और कहाँ कौवेका रूप! महात्माओंसे छल करनेकी बुद्धि करते ही *'सुरपतिसुत'* पदवीसे गिरकर इस दर्जेको पहुँचा, *'काग'* हो गया—*'मूढ़ मंदमति कारन कागा।'* *'काग'* कहलाया।

टिप्पणी—२ *'सुरपतिसुत'* से जनाया कि—(क) एक तो दिव्य देहवाला, दूसरे इन्द्रका दुलारा, तीसरे इन्द्रके समान है। वायस पक्षियोंमें अधम है *'जाहि छुइ सुमति करहिं अस्नाना।'* पुन: (ख) सुरपति छली, मलीन, अविश्वासी, कौवेके समान आचरणवाला है, यथा—*'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥'* (२। ३०२) *'सरिस स्वान मघवान जुवानू।'* (२। ३०२) उसीका यह पुत्र है! अत: काक-वेष धारण किया ही चाहे। (ग) सुरपति छली है और इसने भी छल किया, यथा—*'तासन आइ कीन्ह छल मूरख अवगुन गेह।'* (३। १) आकाशवाणीसे जानकर भी कि परमात्मा ही रघुनाथ हुए हैं उसको प्रतीति नहीं है और मलिन है इसीसे इसने मलिन कर्म किया कि चोंच मारी। पुन:, भाव कि—(घ) अपने बाप इन्द्रके बलसे रामजीके बलकी परीक्षा करना चाहता है। [रामचन्द्रजीका बल जाँचना मामूली आदमीका काम नहीं था। यह सुरपतिका पुत्र था इससे यह जाँचनेके योग्य था। बड़े-से-बड़ा ही उनकी जाँच कर सकता है। इन्द्र या उसका और कोई नाम यहाँ दिया जाता तो यह खूबी न आती जो *'सुरपति'* शब्दमें है। (दीनजी)] (ङ) *'सुरपतिसुत'* कहकर *'ऊँच निवास नीच करतूती'* इस सरस्वतीवाक्यको चरितार्थ किया। [*'सुरपति'* और *'रघुपति'* शब्दोंको एक ही चौपाईमें रखकर दिखाया कि *'सुरपति बसइ बाँह बल जाके'* उन श्रीदशरथमहाराजके पुत्र रघुकुलावतंस श्रीरघुनाथजीके साथ इसकी

ऐसी करनी कैसी बड़ी कृतघ्नता है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ *'धरि बायस बेषा'।* कौएका रूप क्यों धारण किया? एक कारण ऊपर लिखा गया। दूसरा, यह कि चाण्डालकर्म करने आया है, अतः चाण्डाल पक्षीका रूप धरा, यथा—*'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला॥'* (७। ११२) जैसे लोमशजीने चाण्डालपक्षी होनेका शाप देते हुए भुशुण्डिजीको 'शठ' कहा, वैसे ही यहाँ वक्ता लोग **'वायसवेष'** धारण करनेके साथ इसे 'शठ' कहते हैं। (मा० सं०) पुनः, काक महामोहका स्वरूप है और सबसे बहुत सयाना है अतः काक बना। (रामसुधाग्रन्थ) [मा० मा० कार और कारण ये लिखते हैं—(क) भुशुण्डिजी काग हैं। वे रामजीके परम भक्त है। कदाचित् मेरा अपराध रामचन्द्रजी जान भी गये तो उनके नातेसे क्षमा करेंगे, क्योंकि *'प्रनतकुटुंबपाल रघुराई।'* वा, (ख) काग चिरजीवी होता है, इस शरीरमें मृत्युका भय नहीं। वा, (ग) जैसा कर्म करना हो उसके अनुकूल शरीर होना चाहिये। शरीर कोई और हो और कर्म उससे दूसरे शरीरका हो तो निन्दा होती है।—*'लहइ निचाइहि नीच।'* (घ) *'भवभंजनि पद तुंड रघु बपु धरि तुद केहि हेतु। जोग पित्रि लक्षन किधौं रक्षन को सिख देत॥'* (३) अर्थात् उसने अपने पिताका लक्षण ग्रहण किया अतः काक बना। अथवा, रघुनाथजी देवकार्यके लिये वनमें हैं और इस तरह निश्चिन्त होकर सो रहे हैं, अतः उनको शिक्षा देनेके निमित्त चरणमें चोंच मारकर दिखाया कि वनमें इतनी निश्चिन्तताका फल यही होता है, आगेके लिये सावधान हो जाइये। (अ० दी०)]

टिप्पणी—४ *'सठ'* कहा, क्योंकि (क) छलसे बलकी परीक्षा चाहता है कि अपना काम भी कर लूँ और कोई पहचाने भी नहीं। यथा—*'कपटसार सूची सहसबाँधि बचन परबास। करि दुराव चह चातुरी सो सठ तुलसीदास।'* वा, (ख) जो अथाह है, जो मन, कर्म, वचनसे भी सुनने-समझनेमें नहीं आ सकता उसको (आँखोंसे) देखना चाहता है। वा, (ग) बुद्धिविचारहीन है। मन्दोदरी-वाक्यसे मिलान कीजिये, यथा—*'सुरपति सुत जानेउ बल थोरा।'*

टिप्पणी—५ बल देखनेका कारण यह है कि 'समस्त देवता रावणवधकी प्रतीक्षा कर रहे हैं और रामचन्द्रजी तो रात-दिन स्त्रीकी सेवामें लगे रहते हैं। सन्देह हुआ कि ये ईश्वर कैसे हो सकते हैं?' आदिमें जो कहा था कि *'पावहिं मोह बिमूढ़'* वही जयन्तको हुआ। मोहवश होकर उसने परीक्षा ली।—(विशेष पिछली चौपाईमें लिखा गया है और आगे चौपाई ८ में भी गौड़जीकी टिप्पणी देखिये)

टिप्पणी—६ *'जिमि पिपीलिका सागर थाहा।'''''''* इति। अथाह बलको देखना चाहता है और वह भी कागरूपसे, इसीपर सागर और चींटीका उदाहरण देते हैं, जयन्त चींटी सदृश है और रघुपति-बल समुद्र। यथा—*'संकरचापु जहाज सागर रघुबरबाहुबल।'* (१। २६१) *'जाके रोष दुसह त्रिदोष दाह दूरि कीन्हें, पैयत न छत्री खोज खोजत खलक में। माहिषमती को नाथ साहसी सहसबाहु, समर समर्थ नाथ हेरिए हलक में॥ सहित समाज महाराज सो जहाजराज बूड़ि गयो जाके बलबारिधि-छलक में''''''।'* (क० ६। २५) चींटीकी उपमा देकर जनाया कि जैसे यह सर्वथा अशक्य है, वैसे ही जयन्त सर्वथा अशक्य है, जिस बलकी समस्त देवता-दैत्य भी थाह नहीं पा सकते उसको भला यह क्या देखेगा?—**'देवाश्च दैत्याश्च'''''''**। [पुनः भाव कि जैसे एक हलोरेमें चींटीका पता नहीं वैसे ही इसका पता न चलेगा। जहाँ मन-बुद्धिका गमगुजर नहीं वहाँ यह तनसे परीक्षा करना चाहता है। (खर्रा)] इसीसे *'महामन्दमति'* कहा। अत्यन्त मूर्ख और नीच विचारहीन बुद्धिवाला न होता तो ऐसा न करता। विशेष *'मूढ़ मंदमति कारन कागा'* अगली चौपाईमें देखिये।

सीताचरन चोंच हति भागा। मूढ़ मंदमति कारन कागा॥ ७॥

अर्थ—वह मूढ़, मन्दबुद्धिका कारण कौआ श्रीसीताजीके चरणोंमें चोंच मारकर भागा॥ ७॥

गौड़जी— कौएने कई बार यह ढिठाई की होगी। परंतु सरकारके जाग पड़नेके डरसे जगज्जननीने चोट सह ली, निवारणके लिये एक अँगुलीतक न उठायी।—*'सब तें सेवा धरमु कठोरा।'*

नोट—१ मा० म० कारका मत है कि 'चरण और चोंच दोनों मारे।' ऐसा अर्थ करना चाहिये।

कौआ चरण और चोंच दोनोंसे ही घाव करता है। चरण और चोंच दोनों मारे, इस अर्थमें कोई झगड़ा नहीं रह जाता, चाहे जहाँ मारा हो। अब प्रश्न यह होता है कि किस समय यह चरित हुआ? करुणासिन्धुजीका मत है कि रासविलास हो चुकनेपर प्रात:काल शिलापर सो गये थे, तभी यह चरित्र हुआ? श्रीसीताजीको चरण चोंच मारा, रामचन्द्रजीको नहीं, क्योंकि उसने सोचा कि उनको मारूँगा तो जानकीजी निवारण करेंगी।

'सीताचरन चोंच०'

वाल्मीकिजीका मत है कि स्तनमें चोंच मारा। **'स तत्र पुनरेवाथ वायसः समुपागमत्। ततः सुप्तप्रबुद्धां मां राघवाङ्कात् समुत्थिताम्। वायसः सहसागम्य विददार स्तनान्तरे॥ पुनः पुनरथोत्पत्य विददार स मां भृशम्। ततः समुत्थितो रामो मुक्तैः शोणितबिन्दुभिः॥'** (५। ३८। २२-२३) परंतु शिवजीका मत है कि चरणमें चोंच मारा। अध्यात्म और आनन्दरामायणमें 'अंगुष्ठ' शब्द स्पष्ट दिया है। श्लोक इन दोनोंका एक ही है। केवल उत्तरार्द्धमें इतना फर्क है कि आनन्दरामायणमें **'सीताङ्गुष्ठमृदुं रक्तम्'** है और अध्यात्ममें **'मत्पादाङ्गुष्ठमारक्तम्'** है। पहलेमें कविके वचन हैं, दूसरेमें सीताजीके वचन हैं जो उन्होंने हनुमान्‌जीसे कहे। अध्यात्म और वाल्मीकि दोनोंमें जयन्तकी कथा सुन्दरकाण्डमें है, अरण्यमें नहीं, पर प्रसंग चित्रकूटका ही है। अध्यात्ममें महारानीजी कहती हैं कि उसी समय इन्द्रका पुत्र काकवेषमें वहाँ आया और मांसके लोभसे मेरे पैरके लाल-लाल अँगूठेको अपनी चोंच तथा पंजोंसे फाड़ डाला। तदनन्तर जब श्रीरामचन्द्रजी जागे तो मेरे पैरमें घाव हुआ देखकर बोले। यथा—**'ऐन्द्रः काकस्तदागत्य नखैस्तुण्डेन चासकृत्। मत्पादाङ्गुष्ठमारक्तं विददारामिषाशया॥ ततो रामः प्रबुद्ध्याथ दृष्ट्वा पादकृतव्रणम्।'** (अ० रा० सुं० स० ३। ५४-५५) जयदेवजीने भी ऐसा ही लिखा है। गोस्वामीजी शिवकथित रामचरितमानसकी कथा लिखते हैं। रा० प्र० आदि कई टीकाकारोंने वाल्मीकीयसे विरोधके भयसे *'सीताचरन'* का अर्थ *'सीता आचरन'* ऐसा परिच्छेद करके वाल्मीकिके मतानुसार अर्थ किया है। गौड़जी कहते हैं कि *'अँचरा पिलाना'*=स्तन पिलाना। यह मुहावरा है। *'अंचल'* का प्राकृतरूप *'आँचर'* और *'अंचरा'* दोनों है। अन्यत्र प्रयोग भी है *'दुहुँ आँचरन्ह लगे मनि मोती'।* इस प्रकार *'सीताचरन'* का विच्छेद, *'सीता आचरन'* इस प्रकार भी हो सकता है।

☞ धन्य हैं गोसाईंजी कि जिन्होंने ऐसा पद यहाँ दिया जिससे अन्य ऋषियोंके मतका और विष्णु-भगवान् आदिके रामावतारोंके कल्पकी कथाओंका भी उसी शब्दमें सम्मान और समावेश हो जाता है।

प० प० प्र० का मत है कि यहाँ श्रीराम-लक्ष्मणजीके भक्तोंका वैशिष्ट्य देखिये। जिन लक्ष्मणजीने कभी श्रीसीताजीके चरणोंके सिवा अन्य अंगोंपर एक बार भी दृष्टि नहीं डाली, उनके प्रेमी उपासक होकर श्रीमद्गोस्वामीजी चरणोंके अतिरिक्त किसी अन्य अङ्गका उल्लेख करते तो उनकी उपासनामें हीनता आ जाती। श्रीसीताजीके अङ्ग-प्रत्यङ्गका वर्णन श्रीमानसमें कहीं भी नहीं मिलता। कृष्णोपासक इस मर्यादाकी ओर क्यों देखने लगे।

टिप्पणी—१ *'हति भागा'* का भाव कि **'चोंच'** मारकर भागकर दूर बैठ जाता था कि देखें क्या करते हैं। यह भाव आगे ***'चला भाजि बायस भय पावा'*** से सिद्ध होता है। [वाल्मी० ५। ३८ के श्लोक १६ **'दारयन् स च मां काकस्तत्रैव परिलीयते'** अर्थात् वह वहीं छिप जाता था, इससे भी यह भाव आ जाता है कि वह भागकर दूर बैठ गया। श्रीसीताजीके चरणोंमें चोंच मारी, इस तरह क्यों परीक्षा ली? यह सोचकर कि इनका अपराध करनेसे रामचन्द्रजी अपने पुरुषार्थमें कसर न करेंगे, जितना बल होगा सब लगा देंगे। (पं०)]

टिप्पणी—२ ***'मूढ़ मंदमति कारन कागा।'*** पहले चरणमें चोंच मारना कहकर दूसरे चरणमें उसका कारण कहा कि ***'मूढ़ मंदमति'*** है अपनी हानि-लाभ न समझ पड़ी, अपने हाथों अपने मरणका उपाय रचा, अत: मूढ़ कहा। यथा—*'जातुधान सुनि रावन बचना। लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना॥'* (५। २५) रघुनाथजीका बल और प्रभुता नहीं जानी; अत: मतिमन्द कहा; यथा—***'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई॥'*** बल देखनेके लिये काक बना। (पुन: श्रीरामजी तो ऐसे सरल हैं कि चाहनेपर परीक्षा भी दे देते हैं जैसे सुग्रीवने जब *'दुंदुभि अस्थिताल'* दिखाकर बालीका बल दिखाया तब ***'बिनु प्रयास रघुनाथ***

ढहावा।' ऐसे प्रभुसे इसने कपट करके भगवत्-भागवतापराध किया। पुनः *'लोकप होहिं बिलोकत जाके', 'जाकी कृपा कटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ'* उनके चरणकमलोंको पाकर भी उनकी अलभ्य कृपा न प्राप्त करके उनपर प्रहार किया। अतः मूढ़ और मन्दमति कहा। (वि० त्रि०)

नोट—२ उस समय लक्ष्मणजी कहाँ थे, जो उन्होंने रक्षा न की? इसका उत्तर यह है कि यह एकान्त स्थल है, इससे लक्ष्मणजी यहाँ नहीं हैं। दूसरे, जयन्त इसीलिये कौआ बना कि इसका सब घरोंमें प्रवेश है, किसीको कुछ संदेह नहीं होगा। तीसरे लक्ष्मणजी फल-फूल लेने गये होंगे। इत्यादि।

नोट—३ प्रथम चरणका अन्वय दो प्रकारसे होता है—*'मूढ़ काग मन्दमतिके कारण'।* २—मूढ़ और मन्दमति कारण जो काग है अर्थात् मन्दबुद्धि ही जिसका कारण है वह काग। भाव यह कि मन्दबुद्धि न होता तो कौआ न बनता। वा, मन्दबुद्धिकी उत्पत्तिका स्थान है। पंजाबीजी अर्थ करते हैं कि जो मूढ़ है, मन्दबुद्धि है और कारणमात्र जो काग बना हुआ है। बाबा हरीदासजी कहते हैं कि पक्षीको मूढ़ आदि न कहना चाहिये, अतः कहा कि *'कारन कागा'* अर्थात् यह वस्तुतः है तो जयन्त ही, पर कारणसे काग बना है।

चला रुधिर रघुनायक जाना। सींक धनुष सायक संधाना॥ ८॥

अर्थ—जब खून बह चला तब रघुनाथजीने जाना और धनुषपर सींकका बाण रखकर चलाया॥ ८॥

* 'चला रुधिर रघुनायक जाना' *

पु० रा० कु०—१ (क) *'जाना'।* क्या? यह कि सुरपतिसुत है, वायस-वेष धरकर मेरे बलकी परीक्षा लेने आया है और उसीने इनके चरणमें चोंच मारी जिससे यह रुधिर निकला—यह सब जाना। (ख) *'जाना'* पद देकर जनाया कि जानकीजीने स्वयं उनसे न कहा; ऐसा सुशील स्वभाव है। इसी प्रकार जब रघुनाथजीसे कौसल्या अम्बाजीने पूछा था कि *'को दिनकरकुल भयउ कृसानू'।* (२। ५४) तब उनका सुशील स्वभाव देखिये कि उन्होंने भी स्वयं इसका उत्तर न दिया, सचिवसुतसे इशारा कर दिया तब उसने कैकेयीके वरदानका हाल कहा [वैसे ही यहाँ सुरपतिकुलके नाशकका हाल श्रीसीताजीने न कहा। रामचन्द्रजीने स्वयं जान लिया, क्योंकि वे 'रघु' अर्थात् जीवमात्रके नायक अर्थात् स्वामी हैं। वाल्मी० सुं० स० ३८ से भी यह भाव सिद्ध होता है। यथा—'**केन ते नागनासोरु विक्षतं वै स्तनान्तरम्। कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना। वीक्षमाणस्ततस्तं वै वायसं समवैक्षत॥ नखैः सरुधिरैस्तीक्ष्णैर्मामेवाभिमुखं स्थितम्।**' (२६—२८) रघुनाथजीने पूछा कि यह किसने किया? कौन पञ्चमुखवाले सरोष सर्पसे क्रीड़ा करना चाहता है? पर वे कुछ न बोलीं। इन्होंने स्वयं काकको, चोंचमें रुधिर लगा हुआ, देखा कि पास बैठा है। अध्यात्ममें भी ऐसा ही है—'**केन भद्रे कृतं चैतद्विप्रियं मे दुरात्मना।**' '**इत्युक्त्वा पुरतोऽपश्यद्वायसं मां पुनः पुनः।**' (सुं० सर्ग ५। ५५-५६)]

पाँ०—रघुनाथजी जानकीजीकी गोदमें सिर रखे सो रहे थे, उसी अवसरमें जयन्तने चोंच मारी। परंतु रघुनाथजीके जाग उठने, पतिकी निद्रा भंग होनेके भयसे उन्होंने अङ्ग न हिलाया। जब रुधिर बहकर पीठमें लगा तब जागकर उन्होंने जाना। 'जाना' श्लेष पद है। रुधिरका बहना और परीक्षार्थ आना दोनों जाना। (प्र०)

प० प० प्र०—*'रघुनायक'* शब्द देकर जनाया कि एक साधारण पुरुषका भी कर्तव्य है कि कुलाङ्गनाकी इज्जतकी रक्षा करे और अत्याचारीको दण्ड दे, तब भला रघुवंशी वीर, रघुकुलका स्वामी होकर एक रघुवंशीया सतीके साथ अत्याचार देखकर भी शान्त संन्यासीके समान बैठा रह जाय यह कब सम्भव है? उसे दण्ड अवश्य देंगे। इस शब्दसे यह भी जनाया कि रघुवंशी राजा शरणपाल भी होते हैं, शरणमें आनेपर उसपर दया भी करेंगे।

नोट—१ यहाँ एक टीकाकारने यह सन्देह करके कि 'चला' तो रुधिरके साथ सम्बद्ध है, रघुनाथजीने जाना तो क्या जाना? *'बैठे फटिकसिला पर सुन्दर',* इस पूर्वोक्त वचनसे रघुनाथजीके शयनकी तो सम्भावना ही नहीं है? अतएव यहाँ 'जाना' कि हमारी परीक्षा लेने आया है यही भाव है। इसके उत्तर सुनिये—(१) वाल्मीकीय, अध्यात्म आदि प्रायः सभीमें सीताजीकी गोदमें रघुनाथजीका सोना कहा गया है, यथा—'**पर्यायेण**

च सुप्तस्त्वं देव्यङ्के भरताग्रज'—(वाल्मी० ५। ६७। ४), '**ततः समुत्थितो रामो मुक्तैः शोणितबिन्दुभिः'** (५। ३८। २४) और '**मदङ्के शिर आधाय निद्राति रघुनन्दनः।'** (अध्यात्म० ५। ३। ५३) (२) दीनजीका मत है कि '***बैठे फटिकसिला*******' वह प्रसंग वहींपर खत्म हो गया। उसके पश्चात् परीक्षा-प्रसंग है। (३) गौड़जी लिखते हैं कि 'बैठेकी बादकी घटनाओंको व्यञ्जनासे कथाद्वारा ही बताया गया है। इस घटनामें लक्ष्मणजीकी चर्चा नहीं है। वह कहीं गये थे। मयंककार कहते हैं कि कामदगिरिकी प्रदक्षिणाको गये थे। भगवान्‌को रुधिरके चलनेपर ही जयन्तकी ढिठाईका पता चला। बैठे होते तो उसकी हिम्मत ही क्यों पड़ती, पता चलनेकी तो बात ही क्या? सरकार श्रीजीकी गोदमें सिर रखकर सो रहे थे। यह एकान्तकी बात थी। इसका शब्दोंमें वर्णन अदबके खिलाफ समझकर व्यञ्जनासे काम लिया। '*आचरन*' को भी किस नजाकतसे 'सीता'के साथ 'संधि' करके कैसा छिपाया है। बालक भक्त निःशङ्क चर्चा कर सकता है, परंतु शिवजी ज्ञानी भक्त हैं वह '*चरन*' से ऊँचे निगाह उठा नहीं सकते। अतः चरनके कहनेमें भी '*आचरन*' किस खूबीसे छिपा है! जब रुधिर टपका सरकारके मुखारविन्दपर, तभी वह तुरंत उठे। वह लेटे थे इसीलिये तरकस पीठमें बँधा न था। सींक धनुषपर चढ़ाकर ब्रह्मास्त्र चलाया।

टिप्पणी—२ '***सींक धनुष सायक संधाना***' इति। (क) जयन्त परीक्षा लेने आया है। श्रीरामजीने सींकका धनुष बनाकर उसपर सींकका बाण संधान किया। इसमें भाव यह है कि परीक्षा लेने आया है तो ऐसे बाणका भी अद्भुत प्रभाव देखकर उसको विश्वास हो जायगा कि मैंने बड़ी मूर्खता की कि इनके बलकी परीक्षा लेनी चाही, भला इनके असली बाण और बलकी महिमा कौन जान सकता है? पुनः, (ख) तुच्छ जानकर सींक-ऐसी तुच्छ वस्तुका ही प्रयोग किया। पुनः, (ग) दिखाया कि काम पुष्प-धनुष-बाणसे ही सारे ब्रह्माण्डको वश कर लेता है। यथा—'***काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥***' (१। २५७) और हम सींकमात्रसे सारे भुवनोंको कँपा दे सकते हैं। पुनः, (घ) किञ्चित् ही बल दिखाना है, यथा—'***सुरपति सुत जानेउ बल थोरा।***' (६। ३५) अतः सींक-बाण चलाया। रघुनाथजीके बाण अमोघ हैं और जयन्तको मारना नहीं है, अतः शार्ङ्गबाण नहीं चलाया।—(पं०)

नोट—२ मा० शं० कारका मत है कि 'निज धनुष-बाण निशाचरोंके लिये हैं। यह देवता है, इसके लिये देवबाण ही चाहिये। जयन्त भी देवता और ब्रह्मा भी देवता, ब्रह्माका बाण कुश है, अतएव कुशका बाण चलाया। पुनः, सारी सृष्टि ब्रह्माकी रची है। ब्रह्ममन्त्रसे मन्त्रित करके चलाया जिसमें ब्रह्म सृष्टिभरमें जा सके, कहीं जयन्तका पीछा न छोड़े'। पं० रा० व० श० जी कहते हैं कि यह विहारस्थल था, इसीसे यहाँ धनुष-बाण साथमें न था। त्रिपाठीजीका मत है कि इससे वह समझेगा कि रामजीने मुझे कौवा समझा, इसीसे सींकसे मुझे डरवाते हैं।

नोट—३ श्रीरघुनाथजीने यह सींक (कुश) अपने कुशासनसे निकाली थी जिसपर वे लेटे हुए थे। उस कुशको ही उन्होंने ब्रह्मास्त्र-मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके उसपर फेंका। मन्त्रित होनेसे वह प्रलयकालीन अग्निके समान जलता हुआ उस कौवेकी ओर बढ़ा। यथा—'**स दर्भसंस्तराद्‌गृह्य ब्रह्मणोऽस्त्रेण योजयत्। स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमुखो द्विजम्॥**' (वाल्मी० ५। ३८। २९) पुनः, यथा—'**तृणमेकमुपादाय दिव्यास्त्रेणाभियोज्य तत्। चिक्षेप लीलया रामो वायसोपरि तज्ज्वलत्॥**' (अध्यात्म० ५। ३। ५७) एक कारण सींकबाणका यह भी हो सकता है कि जब तिनकेसे काम चल सकता है तब भारी वस्तुसे काम न लेना चाहिये। जैसा पञ्चतन्त्रमें कहा है—'**तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्गवाग्हस्तवता नरेण॥**' अर्थात् जब तिनकेद्वारा ही समर्थ लोगोंका काम होता है तब अंग, वाणी और हाथवाले मनुष्यद्वारा होना तो कोई बात ही नहीं। इससे जयन्तको मालूम हो जायगा कि सींकमें इतना बल है तब इनके बलकी थाह क्या मिल सकती है, ये क्या नहीं कर सकेंगे?

दो०—अति कृपाल रघुनायक सदा दीन पर नेह।
ता सन आइ कीन्ह छलु मूरख अवगुन गेह॥ १॥

अर्थ—अत्यन्त कृपालु रघुकुलके राजा जिनका दीनोंपर सदा स्नेह रहता है, उनसे भी अवगुणधाम मूर्ख जयन्तने आकर छल किया॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) *'अति कृपाल……'*, यथा—*'मान्य मीत सों हित चहै सो न छुवै छल छाँह। ससि त्रिसंकु कैकेइ गति, लखि तुलसी मन माँह॥'* (दोहावली ३२४) (ख) *'सदा दीन पर नेह'* और *'अति कृपाल'* के साथ *'रघुनायक'* पद दिया। रघुजी सर्वस्व दान करके मिट्टीके पात्रसे काम चलाते थे, उस समय भी उन्होंने दया और दीनपर प्रेम न छोड़ा था* और ये तो उनके भी स्वामी हैं। इनकी कृपालुताका क्या कहना? इन्होंने अवधराज्यका सुख त्यागकर आर्त देवता, मुनि, पृथ्वी आदिके लिये उदासी वेष धारण कर वनके कष्ट सहे। पुनः, रघु=जीव। रघुनायक हैं, जीवमात्रके स्वामी हैं; उनसे छल किया। (ग) *'अति कृपाल'* से दयालुता और **'रघुनायक'** से **'लायकता'** (योग्यता) जनायी, यथा—*'पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक॥'* (१। १८) पुनः, कृपालुता और 'लायकता' दीनोंपर है, अतः *'दीनपर नेह'* कहा, यथा—*'एहि दरबार दीनको आदर रीति सदा चलि आई'।* (वि० १६५) यदि दीन होकर वह आता और बलमें संदेह करता तो वे कृपापूर्वक उसे बलका परिचय करा देते, पर उसने मूर्खतासे छल किया। छल तो उससे किया जाता है जिससे सरलतासे काम न निकले। (वि० त्रि०)

नोट—१ *'अति कृपाल रघुनायक सदा दीनपर नेह'* इति। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंकी मातेश्वरी श्रीकिशोरीजीके चरणोंमें मोहवश चोंचका प्रहार करनेपर भी महापराधी जयन्तको जीवनदान मिला—यह केवल दीन होकर शरणमें गिरनेपर—*'अब प्रभु पाहि सरन तकि आएउँ।'* श्रीसुतीक्ष्णजीने भी अपने भक्तिभावका गर्व एक तरफ रखकर दीनताका अवलम्बन लिया है—*'हे बिधि दीनबंधु रघुराया।'* इत्यादि। [दीनतापूरित सुतीक्ष्णजीके शब्द प्रत्येक आर्तव्यक्तिको अपने हृदयपटलपर खूब जमाकर जड़ लेने चाहिये।] मारीचके मारे जानेपर देवताओंने आपमें दीनबन्धुताहीका दिग्दर्शन पाया।—*'निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ।'* बालीने धर्मकी ओट ले अपना हनन अन्याय बताया, पर जब उसका अन्याय प्रकट कर उसका मुँह श्रीसरकारने बन्द कर दिया तब तो वह दीन होकर श्रीकरुणासिन्धुके शरणागतवत्सल बानेकी याद दिलाने लगा। यह कहनेभरकी देर थी। वही भुजदण्ड जो उसे भूतलपरसे उठा देनेको आतुर थे उसके शीशपर फिरने लगे। श्रीसरकारने उसे अजर-अमर कर देनेकी इच्छा भी प्रकाशित की।……यह उसकी इस दीनताका ही परिणाम है कि उसने अपने सब मनोरथ पा लिये और हँसते-हँसते साकेतवासी हुआ। ☞इसे श्रीरामजीके कृपापात्र बननेका नुसखा यहाँ बताया कि दीन बन जाओ, बस फिर वे दीनबन्धु तो हैं ही।

प० प० प्र०—इस काण्डमें **'कृपाल' 'दयाल'** शब्दका प्रयोग जिस प्रमाणमें मिलता है इतने बड़े

* श्रीरघुजी महाराजकी कथा इस प्रकार है कि इन्होंने एक बार विश्वजित् यज्ञ कराया। इस यज्ञमें दिग्विजय किया जाता है और तत्पश्चात् यज्ञमें सर्वस्व दक्षिणा दिये जानेका विधान है। राजाने दक्षिणामें ब्राह्मणोंको सर्वस्व दे दिया, अपने पास कुछ न रखा। इसके पश्चात् वरतन्तु ऋषिके शिष्य कौत्सजी श्रीरघुजीके पास गुरुदक्षिणाके लिये चौदह करोड़ स्वर्णमुद्रा माँगनेको आये। राजाने उनका पूजन-सत्कार मिट्टीके पात्रोंद्वारा करके उनसे पूछा कि क्या आज्ञा है। ऋषि मृत्तिकापात्रोंसे पूजा देखकर ही निराश हो गये और बोले कि 'अब मैं क्या माँगूँ, अन्यत्र जाता हूँ। राजन्! आपके कुलमें भक्ति चली आती है, आपके देनेमें सन्देह नहीं, पर मुझे ही कुछ देर हो गयी। मैं परिस्थिति देखकर जाता हूँ।' राजाने कहा कि आप दो दिन यज्ञशालामें ठहरें, निराश जानेमें हमारा अपमान है। बताइये मैं क्या सेवा करूँ? ऋषिके बतानेपर उन्होंने रात्रिमें रथमें प्रस्थान रख दिया कि प्रातः कुबेरपर चढ़ाई करेंगे। कुबेरको यह खबर हुई तो उन्होंने रात्रिमें ही मुद्राओंकी वर्षा कर दी। राजाने ऋषिसे कहा कि आप सब ले जायँ। (रघुवंश सर्ग ५) रघुमहाराजके जन्मपर भी पाँच उच्च नक्षत्र पड़े थे।—रघुवंशकी यह कथा स्कन्दपुराणसे ली गयी जान पड़ती है। भेद केवल इतना है कि स्कन्दपुराणमें कौत्सको विश्वामित्रजीका शिष्य कहा है और रघुवंशमें वरतन्तुका। सम्भव है कि यह भी उन्हींका एक नाम हो। कुबेरजीने दूतद्वारा रघुजीको संतुष्ट कर स्वर्णकी अक्षय वर्षा कर दी।

प्रमाणमें अन्यत्र नहीं मिलता। मायापुरीके मायाके जालसे छूटनेके लिये भगवान्की कृपा ही एकमात्र अमोघ साधन है। [*'दयाल'* शब्द तो इस काण्डमें एक ही बार प्राय: देखा जाता है—*'त्राहि त्राहि दयाल रघुराई।'* (३। २। ११) और *'कृपाल'* शब्द पाँच बार आया है। हाँ, लंकामें *'कृपाल'* चौदह बार और उत्तरमें सत्रह बार है। *'दयाल'* शब्द लंकामें दो बार और उत्तरमें पाँच बार है। (मा० सं०)]

टिप्पणी—२ *'कीन्ह छलु मूरख······'* इति। ऐसे दीनोंके स्नेहीके साथ छल किया इसका कारण बताते हैं कि वह मूर्ख है, अवगुणधाम है। ये वक्ताओंके वचन हैं। वे कहते हैं कि जिसके निकट समस्त सुखोंकी प्राप्ति है वहाँ यह सब दु:खोंका पात्र स्वयं बना, इसका कारण *'मूरख······'* है।

प्रेरित मंत्र ब्रह्मसर धावा। चला भाजि बायस भय पावा॥ १॥
धरि निज रूप गएउ पितु पाहीं। रामबिमुख राखा तेहि नाहीं॥ २॥
भा निरास उपजी मन त्रासा। जथा चक्र भय रिषि दुर्बासा॥ ३॥

शब्दार्थ—*प्रेरित* =प्रेरणा किया हुआ, चलाया हुआ।

अर्थ—ब्रह्मास्त्र-मन्त्रसे प्रेरित वह ब्रह्मबाण दौड़ा। कौवा भयभीत हो गया और भाग चला॥ १॥ अपना (असली) रूप धरकर वह पिताके पास गया परन्तु रामविरोधी होनेसे इन्द्रने उसको न रखा॥ २॥ तब वह निराश हो गया, उसके मनमें भय उत्पन्न हो गया जैसा दुर्वासा ऋषिको चक्रसे भय उत्पन्न हुआ था॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'प्रेरित मंत्र ब्रह्म सर'* इति। (क) ब्रह्मास्त्रसे बड़ा अस्त्र नहीं है और इसकी गति सर्वत्र है। मन्त्रसे प्रेरित करके सींकको चलाया, देखनेमें वह सींक ही दीखती है, पर उसमें तेज ब्रह्मास्त्रका है, सींक होते हुए भी वह ब्रह्मसर ही है। ब्रह्मास्त्रकी महिमा अपार है, यथा—*'ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा कपि मन कीन्ह बिचार। जौं न ब्रह्मसर मानउँ महिमा मिटै अपार॥'* (५। १८) (ख) जैसे वह देखनेमें तो कौआ था और है जयन्त, वैसे ही यह देखनेमें सींक थी और है ब्रह्मसर। [(ग) वाल्मीकीयमें भी **'ब्रह्मणोऽस्त्रेण योजयत्'** लिखा है। वह बाण प्रलयकालकी अग्निके समान जलता हुआ देख पड़ता था। श्लोक पूर्व आ चुका है।]

टिप्पणी—२ *'धरि निज रूप'*— अपना रूप धरकर गया जिसमें इन्द्र पहचान ले कि मेरा पुत्र है। पुत्रको देखकर रक्षा करेगा। पिताको पुत्र प्यारा होता है, यथा—*'सुत की प्रीति प्रतीति मीत की।'* (वि० २६८) उसके समान दूसरा पालक नहीं, अत: *'पितु पाहीं'* कहा।

टिप्पणी—३ *'राम बिमुख राखा तेहि नाहीं',* यथा—*'राम बिमुख थलु नरक न लहहीं।'* (२। २५२) जब नरकमें भी उसको जगह नहीं मिलती तब भला स्वर्गमें कैसे रहनेको जगह मिले। पुन:, यथा—*'बरषा को गोबर भयेउ को चह को कर प्रीति। तुलसी तू अनुभवहि अब राम बिमुख की रीति॥'* (दोहावली ७३) पुन: इससे जनाया कि रामविमुखता ऐसा बड़ा पाप है कि नरक भी नाक सिकोड़ता है, यथा—*'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी॥'*

टिप्पणी—४ *'भा निरास उपजी मन त्रासा······'* इति। (क) अभीतक पिताका भरोसा था, जब उसने शरणमें न रखा तब भयभीत हो गया और चिन्ता हुई, क्योंकि जब पिताने ही रक्षा न की तब और कौन करेगा? पुन: यह कि वह देवताओंका राजा है, राजा ही न रक्षा कर सका तो प्रजा क्या रक्षा करेगी? पुन: [यह भी अनुमान होता है कि रक्षा करनी तो दूर रही वह स्वयं इसे मारने चला इसीसे वह हताश हो गया—यह भाव आगेके *'मातु मृत्यु पितु समन समाना··········'* से निकलता है। पहले **'भय'** ही था अब **'त्रास'** हुआ]। (ख) यहाँतक बलकी परीक्षा दी, बल देखने आया था, अत: बल दिखाया कि *'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका'* में गया, पर किसीने शरणमें न लिया।

टिप्पणी—५ (क) *'जथा चक्र भय रिषि दुर्बासा'* से दिखाया कि वहाँ तो विष्णुभगवान्का सुदर्शनचक्र था और यहाँ वही भय सींकबाणसे उत्पन्न हुआ, यह रघुनाथजीका प्रभाव दिखाया। ☞यहाँ उपदेश है

कि भक्तका अपराध न करे, यथा—*'जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥'* (२। २१८) राजा अम्बरीष क्षत्रिय थे। उनका अपराध करनेसे ब्राह्मण (ऋषि दुर्वासा) पर चक्र चला और ब्राह्मणको क्षत्रियके पैरोंपर गिराया। यहाँ श्रीसीताजीका अपराध किया तो देवराजके पुत्रपर ब्रह्मसरने धावा किया। पुनः, (ख) इस दृष्टान्तसे कालका भी नियम स्थिर हुआ। चक्र वर्षभरमें लौटा वैसे ही यहाँ जयन्तका पीछा एक सालतक बराबर ब्रह्मसरने किया। पूरी कथा (अ० २१८। ७) में देखिये। पुनः, (ग) [प्र०—इस उदाहरणसे जनाया कि जिसका अपराध किया है उसकी शरण जानेपर प्राण बचेंगे। वहाँ अम्बरीषकी शरण जानेपर रक्षा हुई। यहाँ श्रीसीताजीकी कृपासे उसकी रक्षा हुई।]

ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका॥ ४॥
काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही॥ ५॥

अर्थ—वह ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि समस्त लोकोंमें थका हुआ, भय और शोकसे व्याकुल होकर भागता फिरा॥ ४॥ परन्तु किसीने उसे बैठनेतकको न कहा। (इसका कारण वक्तालोग कहते हैं कि) श्रीरामजीके द्रोहीको कौन रख सकता है? अर्थात् कोई नहीं॥ ५॥

नोट—१ जयन्तका प्रसङ्ग इस काण्डके आदिमें देकर अरण्यकाण्डकी कथा जना दी, उसका बीज यहाँ डाल दिया कि इसमें सीताहरण होगा और तब सुर-नर-मुनिको रावणवधका पूर्ण विश्वास होगा। क्योंकि किञ्चित् अपराधसे देवराजके पुत्रका यह हाल हुआ तब त्रिलोकीका शत्रु सीताहरण करके कब बच सकता है?

नोट—२ *'प्रेरित मन्त्र ब्रह्मसर धावा।……राखा तेहि नाहीं।' 'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका………'* से मिलते हुए श्लोक ये हैं। यथा—'**ततस्तं वायसं दर्भः सोऽम्बरेऽनुजगाम ह। अनुसृष्टस्तदा काको जगाम विविधां गतिम्॥ त्राणकाम इमं लोकं सर्वं वै विचचार ह। स पित्रा च परित्यक्तः सुरैः सर्वैर्महर्षिभिः॥ त्रीँल्लोकान्सम्परिक्रम्य तमेव शरणं गतः॥** (वाल्मी० ५। ३८। ३२—३४) '**भीतैश्च सम्परित्यक्तः सुरैः सर्वैश्च वायसः। त्रीँल्लोकान्सम्परिक्रम्य त्रातारं नाधिगच्छति॥** (वाल्मी० ५। ६७। १४) '**अभ्यद्रवद्वायसश्च भीतो लोकान् भ्रमन्पुनः। इन्द्रब्रह्मादिभिश्चापि न शक्यो रक्षितुं तदा॥**' (अ० रा० ५। ३। ५८) अर्थात् वह कुश पक्षीके पीछे आकाशमें गया। बाण काकका पीछा करने लगा। रक्षाके लिये वह काक कई प्रकारसे चला। सब लोकोंमें वह फिर आया। उसके पिता तथा सभी महर्षियोंने उसका त्याग कर दिया। तीनों लोकोंमें घूमकर वह श्रीरामजीकी शरणमें आया। (३२—३४) सब देवताओंने डरकर उस कौएका परित्याग कर दिया। वह तीनों लोकोंमें घूम आया पर उसे कोई रक्षक न मिला॥ (१४) वह भयभीत होकर भागता हुआ तीनों लोकोंमें फिरा किंतु जब इन्द्र और ब्रह्मादिसे भी उसकी रक्षा न हो सकी तब वह बहुत भयभीत हो गया……। (५८-५९)

टिप्पणी—१ (क) *'ब्रह्मधाम सिवपुर……'*। यथा—*'जो खल भएसि रामकर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥'* (६। २७) (ख) *'सब लोका'* अर्थात् चौदहों भुवनों वा त्रैलोक्यमें। *'लोका'* पद देकर जनाया कि *'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥'* इन अष्ट लोकपालोंके लोकोंमें भी गया और उनसे भी शरण माँगी कि आप सब लोकपाल कहलाते हैं, हमारा पालन कीजिये, मैं आपके लोकमें हूँ। इस शब्दसे वैकुण्ठ, महावैकुण्ठ, किन्नरलोक आदि सभी जना दिये। [प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ सब *'लोका'* कहकर आगे *'मातु मृत्यु पितु समन समाना।' सुधा होइ बिष…… ॥ ६ ॥'* इत्यादिमें उन लोकोंके नाम बता दिये हैं। 'मृत्यु' से मर्त्यलोक, 'पितु' से पितृलोक, 'समन' से यमलोक और 'सुधा' से इन्द्रलोक बताया। 'मित्र' से सूर्यलोक, 'बिबुधनदी' से ब्रह्मलोक क्योंकि गङ्गाजीकी प्रथमोत्पत्ति तो ब्रह्मलोकमें ही हुई और वहाँसे शिवजीके मस्तकपर आनेसे 'शिवलोक' भी इसीमें आ गया। इन्द्र और ब्रह्मलोकोंका उल्लेख करके सप्त स्वर्ग, यम और इन्द्रलोकोंके निर्देशसे अष्ट दिक्पालोंके लोकोंका निर्देश किया। अष्ट दिक्पालोंमें सूर्य-चन्द्र-लोकोंका अन्तर्भाव न होनेसे सूर्य और पितृलोकोंका स्वतन्त्र उल्लेख किया। शिवपुर इन सबसे अलग है, अतः उसे स्वतन्त्र लिखा।] (ग) ब्रह्मधाममें जानेका कारण यह भी हो सकता है

कि यह सींकास्त्र ब्रह्मास्त्र मन्त्रसे अभिमन्त्रित है, अतः ब्रह्मा अवश्य इसका निवारण करेंगे। शिवलोकमें इससे गया कि शिवजी संहारके देवता हैं, प्रलय करनेको समर्थ हैं, महामृत्युञ्जय हैं; मृत्युको हटा देते हैं, अतः वे अवश्य रक्षा करेंगे। (खर्रा) (घ) *'श्रमित'* क्योंकि करोड़ों योजन चला। चार प्रकारका दण्ड उसे हुआ। श्रम, व्याकुलता, भय और शोक। शोक कि बुरा किया अब जीता नहीं बच सकता। भय अस्त्रका कि यह जला डालेगा, छोड़ेगा नहीं।

टिप्पणी—२ *'काहू बैठन कहा न ओही।'''''* इति (क) यहाँ यह शङ्का होती है कि प्रभुका वचन है कि *'सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पावँर पापमय तिन्हहिं बिलोकत हानि॥'* (५। ४३) यहाँ उस वाक्यका विरोध होता है? उत्तर यह है कि धर्मकी गति बड़ी ही सूक्ष्म है। ईश्वर, साधु और ब्राह्मणके विरोधीकी रक्षा करना अधर्म है। इनका रक्षक स्वयं भी विरोधी माना जाता है। इनके सम्बन्धमें शरणागत-पालन-धर्म अधर्म है। इसी कारण ग्रन्थकार भी रामविरोधीका यहाँ नाम नहीं लेते—*'ओही'* अनादरसूचक सर्वनामका ही प्रयोग उन्होंने किया है। (ख) प्रथम चरणमें कहा कि बैठनेको भी किसीने न कहा। जब बैठनेतकको न कहा तब रखना तो बहुत दूर रहा। अतः यह कहकर तब कहा कि *'राखि·····'*। (ग) *'राखि को सकै रामकर द्रोही'* से जनाया कि रामविरोधी सबका द्रोही है जिसे अपनी भी वही दुर्दशा करानी हो वही रक्षाका साहस कर सके। यथा—*'जौं खल भएसि रामकर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥'* (६। २७। २)

नोट—३ श्रीरामजी सर्वात्मा हैं, सबके प्रेरक हैं तथा—*'उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन'*, *'प्रान प्रान के जीव के जिव सुखके सुख राम।'* (२। २९०) 'विश्वात्मा' (वि० ५६), अतः इनका द्रोही जीवमात्रका द्रोही हुआ। इसीसे किसीने उसकी रक्षा न की, रक्षा तो दूर रही उसे बैठनेको भी न कहा। फिर यदि कोई रक्षा करना भी चाहता तो यह असंभव था, यथा—*'सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा॥'* (२। १८९। ७) **'देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र गंधर्वविद्याधरनागयक्षाः। रामस्य लोकत्रयनायकस्य स्थातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे॥ ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥'** (वाल्मी० ५। ५१। ४३-४४) (ये वाक्य श्रीहनुमान्‌जीके हैं। वे रावणसे कह रहे हैं) हे निशाचरेन्द्र! युद्धमें तीनों लोकोंके स्वामी श्रीरामजीके सामने देवता, दैत्य, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, यक्ष कोई भी नहीं ठहर सकते। और की कौन कहे चतुर्मुख ब्रह्मा, त्रिपुरान्तक तथा त्रिनेत्र रुद्र, सुरनायक महेन्द्र भी युद्धमें श्रीरामजीका सामना नहीं कर सकते।

नोट—४ पद्मपुराणमें शिवजीने कहा है कि वह कौआ भयसे पीड़ित हो तीनों लोकोंमें घूमता फिरा। जहाँ-जहाँ वह शरण लेनेके लिये जाता वहीं-वहीं वह भयानक अस्त्र तुरंत पहुँच जाता था। रुद्रादि समस्त देवता, दानव और मनीषी मुनि यही उत्तर देते थे कि 'हमलोग तुम्हारी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं', यथा—**'ते दृष्ट्वा वायसं सर्वे रुद्राद्या देवदानवाः। न शक्ताः स्मो वयं त्रातुमिति प्राहुर्मनीषिणः॥'** (अ० २४२। २०२ उत्तरखण्ड) यह भाव *'बैठन कहा न ओही'* में आ जाता है।

मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥ ६॥
मित्र करै सत रिपु कै करनी। ता कहुँ बिबुधनदी बैतरनी॥ ७॥
सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥ ८॥

शब्दार्थ—**समन** (शमन)=यम। **हरिजान**=हरिकी सवारी, गरुड़। **बिबुध**=देवता, देव। **बिबुधनदी**=सुरसरि, गङ्गा। **बैतरनी**=वैतरणी। यह एक प्रसिद्ध पौराणिक नदी है जो यमके द्वारपर मानी जाती है। कहते हैं कि यह नदी बहुत तेज बहती है; इसका जल बहुत ही गर्म और बदबूदार है और उसमें हड्डियाँ, लहू तथा बाल आदि भरे हुए हैं। यह भी माना जाता है कि प्राणीको मरनेपर पहले यह नदी पार करनी पड़ती है, जिसमें उसे बहुत कष्ट होता है। परंतु यदि उसने अपनी जीवितावस्थामें गोदान किया हो तो

वह उसी गौकी सहायतासे सहजमें पार उतर जाता है। पुराणोंमें लिखा है कि जब सतीके वियोगमें महादेवजी रोने लगे, तब उनके आँसुओंका प्रवाह देखकर देवतालोग बहुत डरे और उन्होंने शनिसे प्रार्थना की कि तुम इस प्रवाहको ग्रहण करके सोख लो। शनिने इस धाराको ग्रहण करना चाहा, पर उसे सफलता नहीं हुई। अन्तमें उसी धारासे यह वैतरणी नदी बनी। इसका विस्तार दो योजनका माना गया है।

अर्थ—हे विष्णु-यान गरुड़जी! सुनिये। हे भ्राता! सुनिये। जो रघुवीरसे विमुख है, उसके लिये उसकी माता मृत्यु, पिता यमराज और अमृत विषके समान हो जाते हैं। मित्र सौ शत्रुओंकी करनी करता है और सुरसरि (गङ्गा) उसे वैतरणी हो जाती है। सारा संसार ही उसे अग्निसे भी अधिक तप्त हो जाता है॥ ६—८॥

टिप्पणी— १ नभ, जल और थल संसारमें ये तीन विभाग हैं, यथा—*'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥'* इस प्रसंगमें दिखाया कि तीनोंमें कहीं उसे जगह न मिली। *'गयेउ पितु पाहीं'* अर्थात् स्वर्गमें गया, यह आकाश हुआ। *'ता कहुँ बिबुधनदी……'* से जल विभाग कहा और *'सब जगु……'* से थल सूचित किया।

टिप्पणी—२ यहाँ रामविमुखकी गति कही। रामकृपापात्रकी व्यवस्था इसकी उलटी है, यथा—*'गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥'* *'……'राम कृपा करि चितवा जाही।'* (५। ५) दोनोंका मिलान—

श्रीराम-विमुख	श्रीरामकृपापात्र
१ *जो रघुबीर बिमुख*	*राम कृपा करि चितवा जाही*
२ *मातु मृत्यु*	*करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥*
३ *सुधा होइ बिष*	*गरल सुधा*
४ *मित्र करै सत रिपु कै करनी*	*रिपु करइ मिताई*
५ *बिबुधनदी बैतरनी*	*गोपद सिंधु*
६ *जग अनलहु ते ताता*	*अनल सितलाई*

इससे सिद्ध है कि रक्षा और नाशकी शक्ति किसी वस्तुमें नहीं है, प्रभुके अनुग्रह-निग्रहमें ही है।

टिप्पणी—३ माताको मृत्यु और पिताको शमन कहकर जनाया कि मृत्यु और यमराज स्त्री-पुरुष हैं। ☞यहाँ दिखाते हैं कि रामविरोधीको सब उलटे हो जाते हैं। माता बालकको जन्म देती है और उसका पालन-पोषण करती है; वही उसका मृत्युका कारण हो जाती है। पिता पुत्रकी स्थिति मातामें करता है; वही यमकी तरह उसे यमलोकको पहुँचा देता है। अमृत अमरत्वगुण छोड़ प्राणघातक हो जाता है। मित्र शत्रुसे बचाता है, वही स्वयं अगणित शत्रुओंका अकेले ही काम करता है। तारनेवाली गङ्गा वैतरणीरूप कष्टदायक हो जाती है। संसारभरमें उसे संताप ही मिलता है, जहाँ भी पैर पड़ता है पैरमें फफोले पड़ जाते हैं। मिलान कीजिये—*'भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम॥'* (१। १७५)

नोट—१ भुशुण्डिजी माता-पिता आदिके दृष्टान्त देकर कहते हैं कि ये सब बातें जयन्तपर बीतीं। माता शची मृत्युसम और पिता इन्द्र यमसमान कठोरचित्त हो गये। इससे जनाया कि पिताके पास जब गया तब माता भी वहाँ थी। सुधारूपी सारी विद्या (जिससे वह परीक्षाके लिये गया) विषरूपा हो गयी। लोकपाल आदिको मित्र जानकर जिन-जिनकी शरण गया वे शत्रु हो गये, उन्होंने बैठने भी न दिया और गङ्गारूपिणी जानकीजी उसे वैतरणी तुल्य हो गयीं। (पां०) श्रीरामप्रसादशरणजीके मतानुसार जगज्जननी जानकीजी इसको मृत्युवत् हुईं (*'जनमत मरत दुसह दुख होई',* वैसा ही दुःख इसे भोगना पड़ा)। जगत्-पितासे यमकी-सी साँसति मिली। श्रीराम-जानकीका दर्शन अमृत सो इसे विष हुआ। मन्दाकिनी तटपर इसको वैतरणीवत् क्लेश हुआ। कैलास आदि अत्यन्त शीतकर हैं, वहाँ भी सींक उसे जलाये डालती है। और खर्रामें लिखा है कि रामजी सर्व अवतारोंमें श्रेष्ठ हैं। उनका बल देखनेका उद्यम सुधा सम था सो विष हो गया। मित्र सौ शत्रुकी करनी करता है, इत्यादि। पर त्रिपाठीजी लिखते हैं कि यहाँ जयन्तकी कायापलट विद्याने सौ शत्रुका काम किया। न उसे यह विद्या आती, न वह काक बनकर भगवतीपर प्रहार

करता। शंकरजीकी जटामें सकलकलुषविध्वंसिनी गङ्गाजी सदा रहती हैं पर वे उसके पापका हरण न कर सकीं, वैतरणीरूप दिखायी पड़ीं।

नोट—२ ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि यहाँ चारों वक्ताओंका कथन पृथक्-पृथक् दिया गया है। *'सुनु हरिजाना'* भुशुण्डिवाक्य; *'सुनु भ्राता'* याज्ञवल्क्यवाक्य, यथा—*'को शिव सम रामहि प्रिय भाई।'* (१। १०४) *'बिबुधनदी बैतरनी'* ये शिववाक्य हैं गङ्गाके सम्बन्धसे और *'राखि को सकइ'* यह गोस्वामिवाक्य है।

प० प० प्र०—मातु मृत्यु आदिके उदाहरण—कद्रू अपने पुत्रोंके नाशका कारण हुई। [जो हरिसम्मुख हो गये जैसे शेषादि वे बच गये। (मा० सं०)], *'पितु समन'*— रावण अपने पुत्रोंके मरणका कारण हुआ। [विभीषण छोटा भाई पुत्र-समान था—*'तुम पितु सरिस भलेहि मोहि मारा।'* वह हरिभक्त होनेसे बच गया। (मा० सं०)] *'सुधा होइ बिष'*— सर्पोंने अमृत चाटा तो जिह्वा फटकर दो हो गयी। *'मित्र……रिपु……'* —वाली और सुग्रीवमें *'भाइहि भाइहि परम सप्रीती'* सो कैसे शत्रु हो गये! (रामविमुख होनेसे वाली मारा ही गया)। **बिबुधनदी**=गङ्गा, मन्दाकिनी। रामकथारूपी *'सरित पावन पाथ की' 'रामकथा-मंदाकिनी'* रामविमुखको वैतरणी-समान दुःखद लगती है।

नोट—३ पंजाबीजीका मत है कि 'यहाँ भुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं कि देखो प्रभुमें मोह करनेका फल; यह शक्रसुत है और तुम भगवान्के वाहन; अतः ऐसी असम्भावना न करना। रामविमुखके सम्बन्धमें भयदायक नीति दिखाते हैं, अतः आश्वासन हेतु *'भ्राता'* सम्बोधन करते हैं।'

नोट—४ इसके बाद कुछ टीकाकारोंने निम्न दोहा दिया है जो क्षेपक है—

'जिमि जिमि भाजत सक्रसुत ब्याकुल अति दुखदीन।
तिमि तिमि धावत रामसर पाछे परम प्रबीन॥'

नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥ ९॥
पठवा तुरत राम पहिं ताही। कहेसि पुकारि प्रनत हित पाही॥१०॥

अर्थ—श्रीनारदजीने जयन्तको व्याकुल देखा, सन्तोंका चित्त कोमल होता है, अतः उन्हें दया लगी॥ ९॥ (उन्होंने) उसको तुरंत श्रीरामजीके पास भेजा—'हे प्रणतजनहितकारी! रक्षा कीजिये' ऐसा पुकारकर कहना एवं उसने तुरत पुकारकर कहा कि *'प्रणतहित पाहि मां'* ॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) 'नारद' (नार=ज्ञान। द= देनेवाले) नाम दिया, क्योंकि उसको यथार्थ ज्ञान देंगे। **'नारं ज्ञानं ददातीति नारदः।'** *'नारद देखा'* से जनाया कि व्याकुल होनेसे उसने इन्हें नहीं देखा। *'लागि दया'* अर्थात् उसका दुःख देखकर इनका चित्त पिघल गया, स्वयं दुःखी हुए, उसपर दया आ गयी कि इसका दुःख दूर करना चाहिये। यथा—*'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।'* (७। १२५। ८) *'पर उपकार बचन मन काया संत सहज सुभाउ खगराया॥'* (७। १२१। १४) 'संत' कहा, क्योंकि दया लग आयी, दया लगना सन्तस्वभाव है, यथा—*'कोमल चित दीनन्ह पर दाया।'* (७। ३७) यह संतलक्षण कहा। (ख) भगवान्के कोपसे बचानेवाले भागवत ही हैं, दूसरे नहीं बचा सकते। प्रभुका वचन है *'मोतें संत अधिक करि लेखा।'* (३। ३६। ३) नारदजीने उसे बचा लिया नहीं तो वह मरा ही था। —*'राम ते अधिक राम कर दासा।'* (७। १२०) यहाँ चरितार्थ हुआ। (ग) *'पठवा तुरत'* से जनाया कि भागतेहीमें उपदेश कर दिया, उसे रोका नहीं। (घ) *'कहेसि पुकारि……'* इति। ब्रह्मसरसे बचनेके लिये शीघ्र बड़ी दूरसे आवाज दी, जोरसे पुकारकर ये वचन उच्चारण किये। यहाँ ग्रन्थकारने भी उसकी आतुरता अपने शब्दोंसे ही लक्षित कर दी है। इतनी जल्दी प्रभुकी शरणमें आ पुकारा कि नारदका उपदेश और उसका पुकारना ग्रन्थकारने एक ही चरणमें लिखा। (इस चरणमें मन्त्र *'प्रणतहित पाहि'* और विधि *'कहेसि पुकारि'* दोनों ही बतला दिये। वि० त्रि०)

नोट—१ द्वि० और भा० दा० ने *'कहेसि'* पाठ दिया है। प्र० में *'कहेसु'* है। इसीसे दो प्रकारके अर्थ लोगोंने किये हैं। किसी-किसीका मत है कि अन्तिम चरण नारदवाक्य है। अर्थात् जयन्तको प्रभुके

पास भेजा और यह कहा कि पुकारकर '**प्रणतहित पाहि मां**' ऐसा कहना। क्योंकि आगे उसका जाकर त्राहि-त्राहि करना लिखते हैं। मानसमें '***कहेसि***' का अर्थ दोनों प्रकार आया है-कहना और कहा। और '***कहेसु***' का अर्थ 'कहना' यही होगा। '***पठवा***' पूर्ण क्रिया है, अतः 'पुकारकर कहा' यह अर्थ अधिक संगत है। पहले दूरसे पुकारकर कहा, फिर पास जाकर चरण पकड़कर अत्यन्त दीन होकर शरण हुआ। अथवा, '***कहेसि***' दोनोंमें लगा लें तो और भी अच्छा है। (चौ० ११ में देखिये) पं० रामकुमारजीने एक पुराने खर्रेमें लिखा है कि नारदने उपदेश किया कि रामजीके पास जाओ। दूरसे ही पुकारकर कहना जिसमें वे सुन लें कि तू शरण आया है और नाम न लेना, 'प्रणतहित' ही नाम लेकर रक्षाकी प्रार्थना करना। अर्थात् कहना कि प्रणतका हित करना आपकी वान है, मैं अत्यन्त 'नत' हूँ……।' कथाके लिये जो साफ किये हुए खर्रे हैं उनमें यह भाव नहीं है।

नोट—२ जयन्तको मारना नहीं है और सबसे निराश होनेपर अब उसकी मरनेकी दशा हो रही है, अतः नारदजीको प्रेरणा हुई तब वे बचानेके लिये आकर मिले-[अथवा नारद सर्वज्ञ हैं, जानकर आ मिले। (वन्दन पाठकजी)]

नोट—३ पुकारनेसे मानरहित और दीन सूचित होगा। '***अभिमान गोविन्दहि भावत नाहीं***', यही कारण है कि दासमें भी अभिमान देखते हैं तो प्रभु तुरत उसे उखाड़कर फेंकते हैं, यथा—'***उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी। बेगि सो मैं डारिहौं उखारी॥ पन हमार सेवक हितकारी।***' (१। १२९) फिर भला अपराधी और विमुख अभिमानपूर्वक छल करे तो कब शरण पावेगा? प्रभुने स्वयं कहा है कि '***मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।***' देवर्षि नारद प्रभुका स्वभाव जानते ही हैं कि दीन होकर शरणमें जानेपर प्रभु शरणागतका त्याग नहीं करते। यथा—'***सब बिधि हीन दीन अति जड़ मति जाको कतहुँ न ठाँउ। आए सरन भजउँ न तजउँ तेहि यह जानत रिषिराउ॥***' (गी० ५। ४५) अतः '***कहेसि पुकारि***' की शिक्षा उन्होंने दी और उसने वैसा ही किया। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि मानी विनय भी करता है तो दम्भपूर्वक गुप्त ही। इसीसे 'पुकारकर' कहनेका आदेश किया, इससे अभिमानरहित दीन जान पड़ेगा। पुकारकर कहनेसे मद, मोह, मान, कपटको अवसर ही न मिलने पावे, यह सूचित किया।

नोट—४ पूर्व कहा गया है कि राम-विरोधी होनेसे वक्ताओंने उसका नाम भी लेना अयोग्य समझा। पर यहाँ नारदके दर्शनपर कविने उसका नाम दिया। क्योंकि उनके दर्शनसे उसका पाप नष्ट हो गया, यथा—'***संत दरस जिमि पातक टरई।***' (४। १७) और अब वह प्रभुके सम्मुख होगा, उसकी विमुखता दूर होगी।

नोट—५ शिव, ब्रह्मा आदिने ही यह उपाय उसे क्यों न बताया? क्या उनको सूझा नहीं? कुछ लोगोंका कहना है कि उन्हें सूझा ही नहीं। हो सकता है कि ऐसा ही हो, पर मेरी तुच्छ समझमें आता है कि शिवजीको अवश्य सूझा होगा, पर उन्होंने प्रभुकी रुचि जानकर उपदेश न किया। जबतक वह परम भयातुर न होगा उसपर किसीकी शिक्षाका प्रभाव नहीं पड़ सकता, दूसरे वह प्रभुके बलकी पूर्ण परीक्षा भी नहीं पा सकता था, जबतक जिसका-जिसका उसको बल-भरोसा था, सबसे हताश न हो जाता। अतः जबतक उसे इन्द्र, लोकपाल, शिव, ब्रह्मा आदिका भरोसा बना रहा कि ये मेरी रक्षा अवश्य करेंगे, जबतक वह निरवलम्ब न हुआ, भय, शोकसे व्याकुल और दीन न हुआ, तबतक शरणका उपदेश न दिया गया। जैसे शिवजीने गरुड़के बारेमें कहा है—'***तातें उमा न मैं समुझावा। रघुपतिकृपा मरम मैं पावा॥ होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥***' (७। ६२) अर्थात् यह जानकर कि इन्होंने अभिमान किया है और प्रभु इनके अभिमानको मिटाना चाहते हैं, उन्होंने गरुड़को भुशुण्डिजीके पास भेजा, स्वयं उपदेश न किया।

पद्मपुराणके श्रीरामचरितमें श्रीब्रह्माजीने जयन्तको यह उपदेश किया कि 'तू भगवान् श्रीरामकी ही शरणमें जा। वे करुणाके सागर और सबके रक्षक हैं। उनमें क्षमा करनेकी शक्ति है। वे बड़े ही दयालु हैं। शरणमें आये हुए जीवोंकी रक्षा करते हैं। वे ही समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं। सुशीलता आदि गुणोंसे सम्पन्न हैं

और समस्त जीव-समुदायके रक्षक, पिता, माता, सखा और सुहृद् हैं। उन देवेश्वर श्रीरघुनाथजीके शरणमें जा, उनके सिवा और कहीं भी तेरे लिये शरण नहीं है।' यथा—'**भो भो बलिभुजां श्रेष्ठ तमेव शरणं व्रज। स एव रक्षकः श्रीमान् सर्वेषां करुणानिधिः॥' 'रक्षत्येव क्षमासारो वत्सलश्शरणागतान्। ईश्वरः सर्वभूतानां सौशील्यादिगुणान्विते॥ रक्षिता जीवलोकस्य पिता माता सखा सुहृत्। शरणं व्रज देवेशं नान्यत्र शरणं द्विज॥**' (प० पु० उ० २४२। २०३—२०५)। मानसकल्पकी कथामें भेद है। यहाँ तो ब्रह्माजीने भी उसे बैठने-तकको न कहा और वह सींकास्त्र उसके पीछे ऐसा लगा है कि वह उसे बड़ा उपदेश सुननेको अवकाश ही क्यों देने लगा। संतशिरोमणि नारदजीने भागतेहीमें उसे बचनेका अमोघ उपाय चार शब्दोंमें दया करके बता दिया।—'*कहेसि पुकारि प्रनतहित पाही।*' बस, इतनेसे उसने मानो प्राण पाये। दीनतापूर्वक उसी उपदेशके अनुसार चरण पकड़कर वह प्रभुकी शरण हुआ।

आतुर सभय गहेसि पद जाई। त्राहि त्राहि दयालु रघुराई॥ ११॥
अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई॥ १२॥
निज कृत कर्म जनित फल पायउँ। अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ॥ १३॥

शब्दार्थ—आतुर=घबड़ाया हुआ, व्याकुल, शीघ्र, यथा—'*सर मज्जन करि आतुर आवहु। दीक्षा देउँ ज्ञान जेहि पावहु॥*' (६। ५६) '**तकि**'=ताककर, उसका अवलम्ब या भरोसा करके।

अर्थ—भय और व्याकुलतासहित उसने शीघ्र जाकर श्रीरामचन्द्रजीके श्रीचरण पकड़ लिये (और कहा—) हे दयालु! हे रघुराई! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये॥ ११॥ आपका बल अतोल है, आपकी प्रभुता अतुलित है, मैं मन्दबुद्धि उसको नहीं जान पाया॥ १२॥ अपने किये हुए कर्मसे उत्पन्न फलको मैं पा गया। हे प्रभो! अब मेरी रक्षा कीजिये, मैं आपकी शरण तककर आया हूँ॥ १३॥

गौड़जी—'***पठवा*······*रघुराई***' तक इकट्ठा अन्वय इस प्रकार होना चाहिये।—'***ताहि पुकारि प्रणतहित! पाहि कहेसि' (अस कहि) तुरत राम पहिं पठवा।*** (जयन्त) ***पुकारि कहेसि 'प्रणतहित पाहि'*** (अरु) आतुर (तुरंत) ***सभय जाइ पद गहेसि (अरु कहेसि) 'त्राहि! त्राहि! दयालु रघुराई'*** इत्यादि। इस अन्वयमें दीप-देहलीन्यायसे '***कहेसि पुकारि प्रनत हित पाही***' यह पद दो बार आता है। पहली बार '***कहेसि***' का अर्थ है 'तू कहना' और यह विधि भी है। दूसरी बार '***कहेसि***' का अर्थ है 'उसने कहा'। दोनों वाक्योंको एकमें ही कहनेमें अद्भुत चमत्कार है। शब्द-शक्तिसे तथा दीपदेहली अलङ्कारसे वस्तु व्यंग्य है। भाव यह है कि नारदजीने ज्यों ही युक्ति बतायी त्यों ही जयन्त उस युक्तिको काममें लाया। क्षणभरकी भी देर न की।

टिप्पणी—१ (क) '***आतुर***' इति। जैसे नारदजीने '***पठवा तुरत***' वैसे ही यहाँ वह तुरत आया भी, यह '***आतुर***' शब्दसे जना दिया। [(ख) '***त्राहि-त्राहि***' में भयकी वीप्सा है। अर्थात् भयके मारे उसने बारम्बार '***त्राहि-त्राहि***' कहा। अथवा श्रीसीताराम युगल-सरकारके विचारसे दो बार कहा। (रा० प्र०) (यहाँ '***रघुराई***' सम्बोधनसे दूसरे भावका खण्डन होता है)। (ग) '***दयालु***' का भाव कि आप मेरी करनीपर दृष्टि न कीजिये किंतु अपनी कारणरहित कृपालुताकी ओर देखिये। (घ) '***रघुराई***' का भाव कि रघुकुलमात्र शरणागत-पालक है और आप तो उसके राजा हैं, सब रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ हैं, मैं आपकी शरणमें आया हूँ। अतएव आप मुझे शरण दें। पुनः भाव कि आप 'रघु' अर्थात् जीवमात्रके 'राजा' अर्थात् स्वामी हैं। मैं पामर जीव हूँ। अतः आपको मेरी रक्षा करनी उचित है। (रा० प्र०)] (ङ) यहाँ दिखाते हैं कि जयन्त मन, कर्म और वचन तीनोंसे प्रभुकी शरण गया। '***सभय***' से मन, '***गहेसि पद***' से कर्म और '***त्राहि*······*आयउँ***' से वचनद्वारा शरणागति सूचित की। शरणागतिके आवश्यक सब अंश यहाँ जयन्तमें दिखाये।—'***सभय, आतुर गहेसि पद, त्राहि त्राहि दयालु रघुराई।***'

नोट—१ पद्मपुराण उत्तरखण्डमें लिखा है कि ब्रह्माजीका उपदेश पानेपर वह भयसे आतुर होकर भगवान् रामके आगे सहसा आकर गिरा। श्रीसीताजीने देखा कि जयन्त प्राणोंके संशयसे व्याकुल और दुःखित मरणोन्मुख

होकर प्रभुके सामने पड़ा है तब उन्होंने विनयपूर्वक कहा—'स्वामिन्! इसकी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।' (इतनेपर भी प्रभु कुछ न बोले तब) उन्होंने भगवान्‌के सामने गिरे हुए उस जयन्तके मस्तकको प्रभुके चरणोंपर रख दिया। तब दयासागरने उसे उठाकर अभयदान दिया और कहा कि जा। तब वह दोनोंको दण्डवत् प्रणाम करके चला गया। यथा—**'इत्युक्तस्तेन बलिभुग्ब्रह्मणा रघुनन्दनम्। उपेत्य सहसा भूमौ निपपात भयातुरः॥' प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम्। त्राहि त्राहीति भर्तारमुवाच विनयाद्विभुम्॥ पुरतः पतितं देवी धरण्यां वायसं तदा। तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी॥ समुत्थाप्य करे नाथ कृपापीयूषसागरः। तमाह वायसं रामो मा भैरिति दयानिधिः। अभयं ते प्रदास्यामि गच्छ गच्छ यथासुखम्॥ प्रणम्य राघवायाथ सीतायै च मुहुर्मुहुः।'** (अ० २४२। २०६—२१०)—मानसकल्पकी कथासे इससे भेद है क्योंकि इसमें एक तो ब्रह्माजीके उपदेशसे जयन्त शरणमें आया, दूसरे बेहोश गिरा है, स्वयं त्राहि-त्राहि भी नहीं किया। श्रीमहारानीजीकी कृपासे ही भगवान्‌ने उसको शरणागत मानकर अभय कर दिया और कोई दण्ड भी न दिया।

परंतु मानस-कल्पकी कथामें इससे बहुत अन्तर है। जो ***'प्रनतहित पाही', 'गहेसि पद जाई', 'त्राहि त्राहि दयाल रघुराई,' '........अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ', 'सुनि कृपाल.......'*** और ***'एक नयन करि तजा'*** से स्पष्ट है। मानस-कथा वाल्मीकीय और अध्यात्मसे कुछ-कुछ मिलती है।

नोट—२ ***'अतुलित बल.......'*** इति। (क) ***'सठ चाहत रघुपति बल देखा'*** उपक्रम है और ***'अतुलित बल.......'*** उसका उपसंहार है। [(ख) पूर्व परीक्षा ली थी। अब परीक्षक स्वयं स्वीकार करता है कि परीक्षा मिल गयी कि अतुलित है। यह परीक्षकोंमें हेड अर्थात् सरदार है, इससे इतनेसे ही जान लिया कि अतुलित है। (दीनजी)] (ग) बल अतुलित है क्योंकि एक सींक चलायी जिसने सारे ब्रह्माण्डको बेध डाला, उसमें यह अव्याहत गति देखी। प्रभुता अतुलित यह देखी कि आप तो चित्रकूटमें ही बैठे रहे तो भी ब्रह्मा-शिवादिने मुझे अपने लोकमें बैठने भी न दिया।

नोट—३ ***'मैं मतिमंद जानि नहिं पाई'*** इति। (क) भाव कि मन्दबुद्धि होनेके कारण न जानता था, अब जाना। पहले मोह था कि स्त्रीको पुष्पाभरण पहना-पहनाकर प्रसन्न किया करते हैं, इनमें क्या बल होगा। पुनः, (ख) यह भी जनाया कि अज्ञानवश मैंने ऐसा किया, उसे क्षमा कीजिये, जैसे रामजीने परशुरामजीसे और उन्होंने रामजीसे कहा था, यथा—***'छमहु चूक अनजानत केरी।'*** (१। २८२) ***'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता॥'*** (१। २८५)—[नोट—नृसिंहपुराणमें भी कहा है—***'त्राहि त्राहि महाबाहो अज्ञानादपि कारितम्'*** अर्थात् मैंने यह अज्ञानवश किया है, मेरी रक्षा कीजिये]

नोट—४ ***'निज कृत कर्म जनित फल पायउँ।.......'*** इति। (क) अर्थात् इसमें आपका किञ्चित् भी दोष नहीं है, सरासर मेरा अपराध है। जैसा किया वैसा फल पाया, यथा—***'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।'*** (२। ९२) ***'जो जस करइ सो तस फल चाखा।'*** (२। २१९। ४) 'अब' का भाव कि कर्मजनित फल मिल गया, अब आप अपराध क्षमा करें, मुझे प्राण दान दें। (ख) 'प्रभु' का भाव कि चौदहों भुवनोंमें आप ही समर्थ हैं, कोई भी रक्षा न कर सका पर आप रक्षा कर सकते हैं। आपका-सा सामर्थ्य किसीमें नहीं। यदि होता तो कोई-न-कोई अवश्य मेरी रक्षा करता। (ग) ***'सरन तकि आएउँ'***— अनन्यता द्योतित करनेके लिये कविने शरणका ताकना कहा। यथा—***'तब ताकेसि रघुनायक सरना', 'आवै सभय सरन तकि मोही।'*** (वि० त्रि०)

सुनि कृपाल अति आरत बानी। एक नयन करि तजा भवानी॥१४॥

सो०—कीन्ह मोहबस द्रोह जद्यपि तेहि कर बध उचित।

प्रभु छाड़ेउ करि छोह को कृपाल रघुबीर सम॥२॥

अर्थ—(शिवजी कहते हैं—) भवानी! कृपालु श्रीरघुनाथजीने उसके अत्यन्त आर्त (दुःखभरे) वचन सुनकर उसको एकाक्ष (एक आँखका) करके छोड़ दिया॥ १४॥ उसने मोहवश द्रोह किया था। यद्यपि उसका वध ही उचित था तो भी प्रभुने कृपा करके उसे छोड़ दिया। रघुवीर श्रीरामजीके समान कौन दयालु है? (कोई भी नहीं)॥ २॥

टिप्पणी—१ *'अति आरत बानी'।* (क) *'त्राहि त्राहि दयालु रघुराई।……अब प्रभु पाहि'* यही 'अति आर्त' वाणी है, यथा—*'प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि॥'* (६। २०) पुनः *'अति'* का भाव यह कि श्रीरामजीके निकट थोड़ी भी दीनता हो तो वे उसे अत्यन्त मान लेते हैं, यथा—*'सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥'* (४। १०) *'सुनत बिनीत बचन अति कह कृपाल मुसुकाइ॥'* सु० ५९ देखिये।

टिप्पणी—२ (क) *'कीन्ह मोहबस द्रोह'* यथा—*'सोचिय गृही जो मोहबस करइ कर्मपथ त्याग।'* (२। १७२) *'करहिं मोहबस द्रोह परावा।'* (७। ४०) भाव कि द्रोहका कारण मोह है। *'करि छोह'* कहा क्योंकि उसके कहनेसे उसका नेत्र भंग किया। (ख) *'एक नयन करि तजा……जद्यपि तेहि कर बध उचित'* इति। जयन्त भगवान्‌के परीक्षार्थ आया और दक्षिण अँगूठा विदीर्ण किया, अतः उसकी दक्षिण आँख फोड़ी गयी। इतना कहनेपर जान पड़ता है कि भवानीकी चेष्टासे उनको संदेह जान पड़ा कि जब एकाक्ष (काना) कर दिया तब कृपालुता कैसी? अतः उसीका समाधान तुरंत शंकरजीने किया। यह शंकरजीका फैसला हुआ। (दीनजी)

टिप्पणी—३ इस प्रसंगभरमें श्रीरामजीका बल, कृपालुता, प्रभुत्व और शरणपालकता गुण दिखाये पर 'कृपा' गुणको प्रधानता दी है, यथा—*'अति कृपाल रघुनायक सदा दीन पर नेह', 'सुनि कृपाल अति आरत बानी', 'प्रभु छाड़ेउ करि छोह को कृपाल रघुबीर सम।'* आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें कृपा गुणका उल्लेख किया है।

टिप्पणी—४ *'प्रभु'* और *'को कृपाल रघुबीर सम'* का भाव यह कि जब क्रोध होता है तब शान्ति और कृपा नहीं रह जाती, जैसा परशुरामजीने कहा है-*'मोरे हृदय कृपा कसि काऊ।'* (१। २८०) पुनः यथा—*'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥'* (५। ५८) दूसरे, सामर्थ्य रहते हुए क्रोधीमें क्षमा-दया प्रायः नहीं होती, यथा—*'येहिके कंठ कुठार न दीन्हा। तौ मैं काह कोप करि कीन्हा॥'* (१। २७९) और यहाँ श्रीरामजी प्रभु (समर्थ) हैं, रघुकुलमें श्रेष्ठ वीर हैं तो भी जयन्तपर इतना कोप होनेपर भी कृपालु हुए।

टिप्पणी—५ जयन्तप्रसंगके द्वारा प्रभुने अपना बल और प्रताप सबको दिखाकर जना दिया कि सीताजीका अपराध करनेवाला बच न सकेगा। रावण इनका अपराध इसी काण्डमें करेगा। वह मारा जायगा। इसमें संदेह नहीं। सुर-नर-मुनिको ढाढस इस चरितसे होगा और मन्दोदरी आदिको भय।

[श्रीसीताजीने जयन्तके प्रसंगका स्मरण करानेके लिये हनुमान्‌जीसे कहा है कि उनसे कहना कि आप अस्त्रवेत्ताओंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, बलवान् हैं और शीलवान् हैं। मेरे लिये एक काकपर जिन्होंने ब्रह्मास्त्र छोड़ा था, वे श्रीराम मेरा हरण करनेवाले रावणको कैसे क्षमा कर रहे हैं, अस्त्रोंका प्रयोग क्यों नहीं करते? यथा—**'एवमस्त्रविदां श्रेष्ठः सत्त्ववाञ्छीलवानपि॥ १८॥ किमर्थमस्त्रं रक्षःसु न योजयसि राघव।'** (वाल्मी० ५। ६७) **'मत्कृते काकमात्रे तु ब्रह्मास्त्रं समुदीरितम्। कस्माद्यो मां हरेत्त्वत्तः क्षमसे तं महीपते।……'** (वाल्मी० ५। ३८। ३९—४३); इससे यह सिद्ध होता है कि यह चरित यही सूचना देनेके लिये हुआ।]

प्र०—(क) *'एक नयन करि तजा'।* इससे बाणकी अमोघता भी रही और उसको शिक्षा भी हुई। एक ही नेत्र फोड़ा क्योंकि अर्धाङ्गिनीजीका अपराध किया था। नेत्र ही फोड़ा, क्योंकि नेत्रसे ही देखकर चोंच मारी थी। मन्दोदरीने भी ऐसा ही कहा है—*'राखा जिअत आँखि गहि फोरा'* (ख) *'जद्यपि तेहि कर बध उचित……'* अर्थात् वध-दण्डके बदले एक अङ्ग ही भंग करके छोड़ दिया, न्याय और दया दोनोंकी मर्यादा रखी।

नोट—१ वाल्मीकीय एवं अध्यात्मसे स्पष्ट मालूम होता है कि प्रभुने उससे कहा कि ब्रह्मास्त्र अमोघ है, उपाय बताओ, तब दक्षिणनेत्र देकर उसने प्राणकी रक्षा की। यथा:—**मोघं कर्तुं न शक्यं तु ब्राह्ममस्त्रं तदुच्यताम्॥ ततस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम्। दत्त्वा तु दक्षिणं नेत्रं प्राणेभ्यः परिरक्षितः॥** (वाल्मी० ५। ३८ ३६-३७), '……**रामस्तमिदमब्रवीत्।**' (५९) '**अमोघमेतदस्त्रं मे दत्त्वैकाक्षमितो व्रज। सव्यं दत्त्वा गतः काक**……।' (अ० रा० ५। ३। ६०) अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीने उससे कहा कि मेरा यह अस्त्र अमोघ है। (निष्फल नहीं जा सकता) अतः तू केवल अपनी एक आँख देकर यहाँसे चला जा। तब वह अपनी 'सव्य' आँख देकर चला गया। 'सव्य' का अर्थ प्रायः वाम ही लिया जाता है, इससे किसी-किसीने बायीं आँखका फोड़ना अर्थ किया। परंतु कोशमें 'सव्य' का अर्थ 'दक्षिण' भी मिलता है, यथा—'**सव्यं वामे च दक्षिणे इति अजयः।**' '**सव्यं तु दक्षिणे वामे च प्रतिकूले च इति विश्वः।**' इस तरह वाल्मीकीय और अध्यात्मकी एकवाक्यता हो जाती है। अथवा, यदि 'बायाँ नेत्र' अर्थ लें तो भाव होगा कि मतभेदके कारण गोस्वामीजीने दक्षिण या वाम कुछ न लिखकर *'एक नयन करि तजा'* कहा। इससे सबके मतोंकी रक्षा हो गयी। एक नेत्र फोड़नेके विषयमें महानुभावोंने अनेक कल्पनाएँ की हैं, यथा—(१) काकके एक ही नेत्र होता है, तेरे दो क्यों? (२) हम दोनोंको एक जाने और देखे। (३) जानकीजी सबको नेत्रवत् प्रिय हैं, यथा—*बधू लरिकनी पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं॥'* (१। ३५५) इति दशरथवाक्य, *'नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ……।'* (२। ५९) और *'जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसें। पलक बिलोचन गोलक जैसें॥'* (२। १४२) नेत्रवत् प्रिय जानकीजीको कष्ट दिया अतः नेत्र फोड़ा। (मा० म०, रा० प्र० श०) (४) शृङ्गाररसमें वीभत्सरस किया, अतः नेत्र ही फोड़ा। (करु०) इत्यादि।

नोट—२ *'जद्यपि तेहि कर बध उचित'* इति। जयन्तने परमप्रिया श्रीजानकीजीका अपराध किया, वह आततायी था, न्यायसे उसका वध उचित था तथापि प्रभुने उसे छोड़ दिया, यह उनकी कृपालुता है। यही मत वाल्मीकिजीका भी है। यथा—'**वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्।**' (५। ३८। ३५) अर्थात् वधयोग्य होनेपर भी उसकी रक्षा की। अ० रा० से स्पष्ट है कि आँख भी जो फोड़ी वह उसकी सम्मतिसे।

नोट—३ कृपालुता एक आँख फोड़नेमें भी है। एक आँख रहनेपर भी दोनोंका काम एकसे ही हो जाता है और अङ्गोंमें यह बात नहीं है। एक पंख या एक पैर या चोंच काट डालनेसे सदा दुःख रहता। (पं०)

प्र० स्वामी इसका समाधान यों करते हैं—(१) 'रघुवीर' शब्दमें ही इस शंकाका उत्तर निहित है। श्रीरामजी 'रघुबीर' रघुकुलके सर्वोत्तम वीर हैं, संन्यासी नहीं हैं। '**क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्। अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम्॥**' रघुकुल-नारिपर कोई अत्याचार करे और रघुवंशी राजा उसे दण्ड न दे तो यह उसके लिये पाप है। यथा—'**अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥**' (मनु० १२८) जो राजा अपनी धर्मपत्नीके अपराधीको बिना दण्डके छोड़ देता हो, वह प्रजाकी स्त्रियोंकी रक्षा क्योंकर करेगा? तब तो प्रजा सभीसे अनादृत हो जायगी। (२) श्रीरामजी जब धनुषपर बाण चढ़ाते हैं तब उसको कुछ-न-कुछ देना ही पड़ता है। परशुरामने तपसे प्राप्त किया हुआ अपना सब कुछ दिया है, यह वाल्मीकीयमें स्पष्ट कहा है। समुद्रनिग्रहके समय जब बाण चढ़ाया तब समुद्रपर कृपा करके उसके बताये हुए उत्तरतटवासी खलोंपर उसको चलाया।

नोट—४ *'को कृपाल रघुबीर सम'* इस प्रसंगमें *'कृपाल'* और *'रघुबीर'* दोनों शब्द चरितार्थ हुए। पञ्चवीरतायुक्त होनेसे *'रघुबीर'* नाम है। विद्यावीर, दानवीर, दयावीर, पराक्रमवीर और महावीर हैं। सींकास्त्रसे तीनों लोकोंमें कोई रक्षा न कर सका इससे विद्यावीर और महावीर दिखाया। शरण आनेपर प्राणकी रक्षा की इससे दयावीरता दिखायी। जीवमात्रकी रक्षाको एकमात्र हम ही समर्थ हैं, इस दृढ़ अनुसन्धानका ही नाम कृपा है; यथा—'**रक्षणे सर्वभूतानामहमेको परो विभुः। इति सामर्थ्यसन्धानं कृपा सा पारमेश्वरी॥**' (भ० गु० द०) जिस जयन्तकी किसीने रक्षा न की उसकी रक्षा आपने की, यह कृपालुता है।

'एक बार चुनि कुसुम सुहाए।' (१। ३) से *'प्रभु छाड़ेउ करि छोह*·······(२)।' तक इति। श्रीरामप्रसादशरणजी कहते हैं कि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस काण्डके प्रत्येक चरितमें नवों रसोंकी झलक है। इन चौपाइयोंमें भी यद्यपि प्रधानरूपसे शृङ्गार ही है तथापि इस प्रसंगमें नवों रसोंका अन्तर्भाव भी है। जैसे कि—(क) फूलोंके आभूषण धारण करानेमें शृङ्गारकी पराकाष्ठा है। (ख) भूषणोंके पहनाते समय मन्द मुसकानयुत कुछ छेड़-छाड़ है, इसमें 'हास्य' है। (ग) जयन्तका इसी समय रंगमें भंग करना, चरणोंमें चोंच मारना और उससे रुधिरका स्राव होना 'बीभत्स' है। (घ) श्रीरामजीको उसपर क्रोध आना 'रौद्र' है। (ङ) सींकपर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके उसे लक्ष्य बनाया, यह 'वीररस' है। (च) बाणने बेतरह जयन्तका पीछा किया और उसके प्राणोंका गाहक हुआ। जयन्त भयातुर हो भागता फिरा। इसमें 'भयानक' रस है। (छ) बाण और जयन्तमें दो अंगुलका ही बराबर बीच रहा, किंतु उसने जलाया नहीं, यह 'अद्‌भुतरस' है। (ज) शरण आनेपर दया आनेमें 'करुणा' और, (झ) यह सब हो चुकनेपर भी चित्तका स्थिर बना रहना 'शान्तरस' है।

रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति सुधा समाना॥ १॥
बहुरि राम अस मन अनुमाना। होइहि भीर सबहि मोहि जाना॥ २॥
सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीतासहित चले द्वौ भाई॥ ३॥

अर्थ—चित्रकूटमें बसकर श्रीरघुनाथजीने अनेक चरित किये जो कानोंको अमृत-समान* (प्रिय) हैं॥ १॥ फिर श्रीरामजीने मनमें ऐसा विचार किया कि मुझे सभी जान गये, इससे भीड़ होगी॥ २॥ अतः सब मुनियोंसे विदा कराके सीतासहित दोनों भाई (वहाँसे) चले॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'रघुपति चित्रकूट बसि नाना*·····' इति। (क) वाल्मीकिजीसे प्रभुने जो कहा था कि *'तहँ रचि रुचिर परन तृनसाला। बास करौं कछु काल कृपाला॥'* (२। १२६) उसको चरितार्थ किया—*'रघुपति चित्रकूट बसि*·······'। पुनः मुनिने कहा था कि *'चित्रकूटगिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥'* (२। १३२) अतः *'चित्रकूट बसि नाना चरित किये*·····।' चित्रकूटनिवासका उपसंहार यहाँ है। (ख) *'नाना'* अर्थात् किये तो बहुत पर हमने एक ही कहा। *'अब प्रभुचरित सुनहु अतिपावन।'* (३। १। २) उपक्रम है और *'चरित किये श्रुति सुधा समाना'* उपसंहार है। इस प्रसंगकी समाप्ति यहाँ की। वहाँ सूक्ष्मतः यह भी जनाया कि ये सब चरित शृङ्गाररसके हैं। [वाल्मीकिजीके *'सब भाँति सुपासू'* दिखलानेके लिये शृङ्गाररसका वर्णन किया। सीतानाथका विहारस्थल प्रमोदवन प्रसिद्ध है। चरित्रमें शृङ्गाररसके योगसे माधुर्यातिशय हो गया। इसलिये *'श्रुति सुधा समाना'* कहा। अथवा अलौकिक रति ही वेदोंका सार है, इससे *'श्रुति*·······' कहा। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ *'मन अनुमाना। होइहि भीर*·······' इति। (क) भीड़ होनेका अनुमान होनेका कारण है। अवध-मिथिलावासी देख गये हैं। किसी-न-किसी बहानेसे वे अवश्य आते-जाते रहेंगे। भीड़का पास रहना धर्मविरुद्ध है। यह *'विशेष उदासी व्रत'* के प्रतिकूल पड़ता है। (ख) अध्यात्मसे जान पड़ता है कि आस-पासके नगरनिवासी दर्शनोंकी इच्छासे सदैव आया-जाया करते थे। [भावुक तो अवध-मिथिला प्रान्तोंका जन-जन है। अब कोई श्रीअवधका नागरिक आकर अपनी महारानीको कुशसाथरीपर सोते देखकर आर्तक्रन्दन करने लगे। मिथिलाका कोई वृद्ध या युवक श्रीजानकीजीको अपनी पुत्री या बहिन मानकर उनके लिये शय्या-वाहन आदिकी व्यवस्था करना प्रारम्भ कर दे तो ऐसे भावुक भक्तोंको कैसे रोका जा सकेगा? परम संकोची मर्यादापुरुषोत्तम कैसे उनके हृदयोंको निराश करके भग्न कर सकेंगे और उनका आग्रह मानकर वनवासी जीवनका निर्वाह कैसे शक्य है। अतः मार्ग ही एक रह गया कि किसीके आनेके पहले ही

* 'श्रुति'का अर्थ वेद भी किया गया है। अर्थ—वेदके समान पवित्र और अमृतसदृश। वेदके अनुकूल और सुनने एवं कल्याण करनेमें अमृत-समान। यथा—'श्रुति सेतुपालक राम·······'। वा, सुधासम जन्ममरणनाशक। वा, वेदोंमें साररूप जैसे समुद्रका सार अमृत वैसे वेदोंका सुधासाररूप यह चरित। यथा—'ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं······'।—(खर्रा)

चित्रकूटको छोड़ दिया जावे। (श्रीचक्रजी)] उस भीड़-भाड़को देखकर और अपने दण्डकारण्यके कार्यको भी विचारकर उन्होंने चित्रकूटको छोड़ दिया, यथा—'**नागराश्च सदा यान्ति रामदर्शनलालसाः। चित्रकूटस्थितं ज्ञात्वा सीतया लक्ष्मणेन च**'। (अ० रा० २। ९। ७७) '**दृष्ट्वा तज्जनसम्बाधं रामस्तत्याज तं गिरिम्।**' गीतावलीसे भी यही सिद्ध होता है। यथा—'***काहू सों काहू समाचार ऐसे पाए। चित्रकूट ते राम लषन सिय सुनियत अनत सिधाए॥ सैल सरित निर्झर बन मुनिथल देखि देखि सब आए। कहत सुनत सुमिरत सुख दायक मानस सुगम सुहाए॥*''''''''' (२। ८८) (ग) जयन्तप्रसंगसे सबका जानना कहा। सब जान गये कि ईश्वर हैं। अथवा भाव कि यहाँ सब जान गये, अब जो नहीं जानते उनको चलकर दर्शन दें—यह कृपागुण है। (खर्रा, वन्दन पाठकजी) ['विश्राम सागरमें' भी लिखा है कि अवधसे लोग बराबर आते-जाते थे। (दीनजी)]

टिप्पणी—३ '***सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई***' इति। (क) विदा होकर जाना शिष्टाचार है, यथा—'***चलेउ पवनसुत बिदा कराई।***' (५। ८। ५) '***मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी।***' (१। ४८। ६) '***गयेउ राउ गृह बिदा कराई।***' (१। २१७। ८) पुनः, (ख) ऐसा करनेसे मुनियोंको संतोष होगा। पुनः, 'सकल' से मिलनेसे आपकी सरलता दिखायी जैसा आगे भी दिखायेंगे, यथा—'***सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह।***' (९) (घ) इस चौपाईसे नवीन प्रसंगका आरम्भ जनाया। '***सुरपति सुतकरनी***' प्रकरण समाप्त हुआ।

'प्रभु-अत्रि-भेंट-प्रकरण'

अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ। सुनत महामुनि हरषित भयऊ॥ ४॥
पुलकित गात अत्रि उठि धाए। देखि रामु आतुर चलि आए॥ ५॥

अर्थ—प्रभु जब अत्रिजीके आश्रममें गये तब वे महामुनि सुनते ही आनन्दित हुए॥ ४॥ शरीर पुलकित हो गया, श्रीरामचन्द्रजीको देखकर अत्रिजी उठकर दौड़े। रामचन्द्रजी (मुनिको दौड़े आते हुए) देखकर बड़ी शीघ्रतासे चलकर आये॥ ५॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ '***अत्रिके आश्रम जब प्रभु गयऊ।***' (क) विदा होकर चित्रकूटसे चलनेमें माधुर्य-सम्बन्धी '***द्वौ भाई***' पद दिया और यहाँ अत्रिजीके आश्रमपर पहुँचनेपर ऐश्वर्यसम्बन्धी '***प्रभु***' पद दिया। कारण यह कि इनको देखकर मुनि दौड़ेंगे, मुनिका इनमें प्रभु-भाव है। (ख) मुनिका आश्रम आध कोसतक है। कुटीसे आश्रमकी सीमा इतनी दूर है। '***आश्रम गयऊ***' से जनाया कि सीमाके भीतर पहुँचे, अभी कुटी दूर है। (ग) चित्रकूट-रामघाटसे मुनिका आश्रम (सीमा) तीन कोस है और सीमासे कुटी आध कोस है। यह बीचकी नाप कविने साढ़े तीन चौपाइयाँ देकर जना दी हैं। '***सीता सहित चले द्वौ भाई***' से लेकर '***सादर निज आश्रम तब आने***' तक ३॥ (साढ़े तीन) चौपाइयाँ बीचमें हैं। पहला '***आश्रम***' सीमाका बोधक है और आगे जो पुनः '***आश्रम***' शब्द आया है—'***सादर निज आश्रम***''''''''' वह कुटीका बोधक है।

(नोट—इसी प्रकार वाल्मीकिजीके आश्रमपर यह शब्द दो बार आया है, यथा—'***बालमीकि आश्रम प्रभु आए।***' (२। १२४। ५) और '***करि सनमान आश्रमहिं आने।***' (२। १२५। २) वहाँ भी यही दो अर्थ हैं।)

टिप्पणी—२ '***सुनत महामुनि हरषित भयऊ।***' (क) कोल-किरातसे सुना होगा, यथा—'***सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे।***' (२। २२६) (ख) यहाँ भीतर (मन) का हर्ष कहा और आगे '***पुलकित गात***' से बाहरका हर्ष कहा। हर्षका कारण '***सेवक सदन स्वामि आगमनू***' है। भीतर-बाहर दोनोंमें हर्ष छा गया। हर्ष और प्रेमके मारे स्वागतके लिये उठ दौड़े। यथा—'***प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥***' (३। १०। ३) (सुतीक्ष्णजी), '***सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए। हरि बिलोकि लोचन जल छाए॥***' (३। १२। ९) (अगस्त्यजी), '***समाचार पुरबासिन्ह पाए॥ धाये धाम काम सब त्यागी।***' (१। २२०) (मिथिलावासी) (ग) अत्रिजी चित्रकूटके ऋषियोंमें सबसे प्रधान हैं। इसीसे अन्य सब ऋषियोंको 'मुनि' कहकर—'***सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई***', इनको 'महामुनि' कहा। अर्थात्

और सब मुनि हैं और ये महामुनि हैं। यथा—*'अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत भय कानन चरहू॥'''''रिषिनायक जहँ आयसु देहीं। राखेहु तीरथजल थल तेहीं॥'* (२। ३०८। ५, ७)। वाल्मीकिजीके *'अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं।'* (२। १३२। ७) से भी यही सिद्ध होता है। इनका नाम लिया औरोंको *'आदि''''''* से जना दिया।

प० प० प्र०—अत्रि शब्द ही कहता है कि वे त्रिगुणातीत थे। सगुण परमात्मा मिलने आते हैं इतना सुनते ही दौड़े, इससे सगुण भक्तिकी पराकाष्ठा दिखायी। *'गयऊ'* से सिद्ध है कि गोस्वामीजी तबतक मनसे रामाश्रममें ही रहे। भगवान् चले, उसके पश्चात् ये निकले और उनके पहले ही उधर जा पहुँचे। यह आगे के *'चलि आए'* से स्पष्ट किया है।

टिप्पणी—३ *'देखि राम आतुर चलि आए'।* (क) उधर मुनिका प्रेमातुर होकर दौड़ना कहकर इधर प्रभुको भी अपने धर्ममें सावधान दिखाया। यथा—*'सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू। सिय समीप राखे रिपुदवनू॥ चले सबेग राम तेहि काला। धीर धरम धुर दीनदयाला॥'* (२। २४३) (ख) मुनिका 'धावना' कहा और रामजीका 'आतुरतासे चलकर आना' कहा। इनका दौड़ना न कहा, क्योंकि इनके साथ स्त्री है जो अत्यन्त सुकुमारी है जैसा अयोध्याकाण्डमें दिखाया जा चुका है। (क० २। १०-११) देखिये। तो भी बहुत तेजीसे चले जिससे मुनिको अधिक श्रम न हो। [(ग) मुनिको प्रभुके आगमनकी खबर मिली, अत: सुनकर दौड़ना कहा, पर किरात रामजीको खबर न दे सके कि मुनि आ रहे हैं क्योंकि मुनि सुनते ही धाये और बीचमें जगह थोड़ी ही थी। इसीसे रामजीका देखकर आतुर होकर चलना कहा। अथवा, इधर खबर पहुँचानेका कोई प्रयोजन न था इससे इनको खबर न दी गयी। (खर्रा)]

प० प० प्र०—*'चलि आए'* इति। *'आए'* से सूचित हुआ कि गोस्वामीजी ध्यानदृष्टिसे अत्रिजीके आश्रममें प्रभुके पूर्व ही पहुँच गये। और वहाँसे देख रहे हैं कि भगवान् कब आते है, अत: *'आए'* कहा। देखिये—*'तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए।'* (२। १०६। ७) *'बालमीकि आश्रम प्रभु आए।'* (२। १२४। ५) *'पुनि आए जहँ मुनि सरभंगा।'* (३। ७। ८) में भी *'आए'* है, आगे *'मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा।'* (३। १२। ५) *'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह।'* (३। ९) इत्यादिमें *'आए'* नहीं है। विशेष *'आइ नहाए सरितबर सिय समेत दोउ भाइ।'* (२। १३२) में देखिये।

करत दंडवत मुनि उर लाए। प्रेमबारि द्वौ जन अन्हवाए॥ ६॥
देखि रामछबि नयन जुड़ाने। सादर निज आश्रम तब आने॥ ७॥

अर्थ—दण्डवत् करते ही मुनिने उनको हृदयसे लगा लिया और दोनों जनोंको अपने प्रेमाश्रुसे नहला दिया॥ ६॥ रामचन्द्रजीकी छबि देखकर नेत्र शीतल हुए; तब मुनि उनको आदरपूर्वक अपने आश्रममें लाये॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'करत दंडवत मुनि उर लाए'* इति। (क) यहाँ श्रीराम और मुनि दोनोंकी परस्पर आतुरता और प्रेम दिखाते आ रहे हैं। *'करत'* शब्दमें भी वही भाव झलक रहा है। (ख) हृदयमें लगाते ही प्रेम उमड़ पड़ा, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु प्रवाह ऐसा उमड़ा कि दोनों भाई (जो छातीसे लगे हुए थे) उससे नहा-से गये। यह अत्यन्त प्रेमकी दशा है, यथा—*'अति अनुराग अंब उर लाए। नयन सनेह सलिल अन्हवाए॥'* (२। २४५) (ग) यहाँ *'अन्हवाए'* पद देकर जनाया कि प्रभुने माधुर्यमें मुनिको दण्डवत् किया; पर वे ऐश्वर्यभावसे इनका षोडशोपचार पूजन करेंगे। उस पूजनका प्रारम्भ यहीं कर दिया गया। [(घ) यहाँ मुनिने रामजीकी माधुर्य-लीलाकी मर्यादा रखी, उनको हृदयसे लगाया पर स्वयं माथा न नवाया, न विनती ही की। आगे ऐश्वर्यके अनुकूल विनती और प्रणाम किया है और भक्तिका वरदान माँगा है। जहाँ जैसा चाहिये वहाँ वैसा किया। (खर्रा)]

नोट—'*करत दंडवत मुनि उर लाए*' यह चरण ज्यों-का-त्यों श्रीभरद्वाज-मिलन-प्रसङ्गमें भी है। यथा—'***तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए। करत दंडवत मुनि उर लाए॥***' (२। १०६। ७) '***करत दंडवत***' शब्द आगे पम्पासरपर भी आये हैं, यथा—'***करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥***' (३। ४१। १०) (नारदजीको दण्डवत् करनेमें ही श्रीरामजीने उठा लिया।) यद्यपि श्रीवाल्मीकिजी तथा श्रीअगस्त्यजीका भी भाव ऐसा ही है तथापि उनके प्रसङ्गोंमें ऐसा नहीं हुआ है। यथा—'***मुनि कहुँ राम दंडवत कीन्हा। आसिरबाद बिप्रबर दीन्हा॥***' (२। १२५। १) '***मुनि पद कमल परे दोउ भाई। रिषि अति प्रीति लिये उर लाई॥***' (३। १२। १०), (२। १२५। १) देखिये।

टिप्पणी—२ '***देखि रामछबि नयन जुड़ाने।***' इति। (क) सब भाइयोंमें श्रीरामजीकी छबि सबसे अधिक है। इसीसे '***रामछबि***' देखकर नेत्रोंका शीतल होना कहा। यह मूर्ति ही ऐसी सुखदायी है। यथा—'***चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥***' (१। १९८) '***भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥***' (१। २०७। ५-६) (विश्वामित्रजी), '***पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥***', '***दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता। नयनानंद दानके दाता॥***' (५। ४५) (ख) 'जुड़ाने' से पूर्व (दर्शन-बिना दर्शनके लिये) संतप्त होना जनाया। यथा—'***चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥***' (८। ३) (शरभङ्गजी) विशेष '***देखि राम छबि नयन जुड़ाने।***' (२। १२५। २) और सुं० ४५ (३) में देखिये।* (ग) '***नयन जुड़ाने***' कहकर जनाया कि रामानुरागी रामको ही पाकर, उनका दर्शन करके शीतल होते हैं, अन्य किसी पदार्थसे नहीं 'जुड़ाते'। [घ] खर्रा—(१) देखिये अत्रिके नेत्रसे चन्द्रमाका जन्म हुआ जो अत्यन्त शीतल है तो भी उससे शीतल न हुए, प्रभुके दर्शनसे ही शीतल हुए। (२) मुनिने प्रभुको प्रेम-जलसे शीतल किया और स्वयं उनकी छबि देखकर शीतल हुए। छबि समुद्र है, दर्शन जल है। यथा—'***भरि लोचन छबिसिंधु निहारी।***' (१। ५०) '***जौं छबिसुधा पयोनिधि होई।***' (१। २४७) नेत्रके प्रेम-जलसे प्रभु शीतल हुए और छबि-जलसे मुनि शीतल हुए। (३) स्वयं दोनोंको शीतल किया और आप शीतल हुए राम-छबिसे, क्योंकि '***चारिउ रूपसील गुनधामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥***' इत्यादि। ग्रन्थमें सर्वत्र जिन्हें दोनों भाइयोंका दर्शन हुआ उन्हें दोनोंके दर्शनसे आनन्द हुआ, पर पीछे उनके नेत्र प्रभुहीमें लग गये। (ङ) '***सादर निज आश्रम तब आने।***' यथा—गीतावली—'***प्रेम पट पाँवड़े देत सुअरघ बिलोचन बारि***' अर्थात् नेत्रोंके जलसे ही मानो सुन्दर अर्घ्य और प्रेम-पावँड़े देते हुए आश्रममें ले गये। (शबरीप्रकरण) प्रेमपट बहुत कोमल है, यथा—'***जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥***' (२। २२०)

करि पूजा कहि बचन सुहाए। दिये मूल फल प्रभु मन भाए॥ ८॥

सो०—प्रभु आसन आसीन भरि लोचन सोभा निरखि।

मुनिबर परम प्रबीन जोरि पानि अस्तुति करत॥ ३॥

शब्दार्थ—***आसीन*** =विराजमान, बैठे हुए। ***प्रबीन*** (प्रवीण)=निपुण, चतुर।

अर्थ—पूजा करके सुहावने सुन्दर वचन कहकर उन्होंने प्रभुको 'मन भाये' कंदमूलफल दिये जिससे प्रभु प्रसन्न हुए॥ ८॥ प्रभु आसनपर विराजे। नेत्र भरकर उनकी शोभा देखकर परम प्रवीण मुनिश्रेष्ठ हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ '***करि पूजा***'— आगे टि० ४ में देखिये। '***कहि बचन सुहाये***' अर्थात् कहा कि हमपर बड़ी कृपा की, हमारे बड़े भाग्य हैं कि आपने घर बैठे दर्शन दिये, अब हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिये। यथा—'***मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा।***' (१०। १२) (अगस्त्यवाक्य), '........***मुनिबर कहेउ अतिथि प्रेमप्रिय***

* खर्रा—सब शास्त्र अवलोकन करते-करते, 'बाट जोहते' (=राह देखते कि प्रभु आकर दर्शन दें) एवम् तप आदि करनेसे संतप्त थे, अब शीतल हुए।

होहु। कंद मूल फल फूल हम देहिं लेहु करि छोहु॥' (२। २१२) (भरद्वाज) [पुनः, मूल फल देनेका भाव कि जो सत्कर्मादि किये थे, उन्हें इस बहाने समर्पण किया। (रा० प्र०) ***'मन भाये'*** का भाव कि वही-वही फल दिये जिन्हें प्रभु बहुत चाहते—पसंद करते थे। अथवा, फल-मूल दिये जो प्रेमके कारण प्रभुको बहुत अच्छे लगे। अथवा प्रभुने इच्छाभर भरपेट खाया, इससे ***'मन भाये'*** कहा। (पं० रा० व० श०) वा, भक्तिपूर्वक अर्पण होनेसे ***'मन भाये'*** कहा। प्र० स्वामी लिखते हैं कि वाल्मीकिजीके आश्रमतक कन्द-मूल-फलादिके खानेका स्पष्ट उल्लेख है। यहाँ 'दिये' अर्थात् महर्षिका देनाभर लिखा है, खाये या नहीं यह स्पष्ट नहीं किया गया। तथापि खाये न होंगे ऐसा प्रतीत होता है। श्रीशबरीजीके यहाँ केवल श्रीरामजीका खाना लिखा है। विशेष उस प्रसंगमें देखिये]

टिप्पणी—२ ***'भरि लोचन सोभा निरखि'*** . इति। (क) ***'प्रभु आसन आसीन'*** कहकर तब ***'भरि लोचन········'*** कहनेका भाव कि जबतक षोडशोपचार पूजनमें लगे रहे तबतक उन सब कृत्योंके कारण प्रभुकी शोभा जीभरकर देखनेका अवकाश न था, जब उन कृत्योंसे छुट्टी मिली, तब नेत्रभर देखनेका अवकाश मिला। प्रभु आसनपर बैठे, मुनि सामने खड़े हुए एकटक शोभाको देख रहे हैं। ***'भरि लोचन'*** पदसे जनाया कि इनको दर्शनकी अत्यन्त उत्कट लालसा थी। जहाँ-जहाँ कविने ऐसी अभिलाषा दिखायी है वहाँ-वहाँ यह पद प्रयुक्त किया गया है। जैसे, शिवजीको दर्शनकी अति अभिलाषा थी, यथा—***'हृदय बिचारत जात हर केहि बिधि दरसन होइ।'······तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची॥'*** (१। ४८) जब उनको दर्शन हुआ तब लिखते हैं कि ***'भरि लोचन छबि सिंधु निहारी।'*** (१। ५०। २) [इसी प्रकार विप्र (भुशुण्डिजी), अवधवासियों, मनु-शतरूपाजी आदिकी दर्शनाभिलाषा बढ़ी-चढ़ी दिखाकर उनके प्रसंगोंमें भी ***'भरि लोचन'*** पद दिया है। यथा (भुशुण्डि)—***'रामचरन बारिज जब देखउँ। तब निज जनम सफल करि लेखउँ॥'*** (७। ११०)।***'·······भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा॥'*** (७। १११) (अवधवासी)—***'राम दरस बस सब नर नारी। जनु करि करिनि चले तकि बारी॥'*** (२। ११८। १), ***'रामदरसकी लालसा भरतसरिस सब साथ।'*** (२। २२४); अतः कहते हैं······***मंगल मूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि-करि॥'*** (२। २४९); (मनु)—***'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥'*** (१। १४४। ३) अतः वे माँगते हैं कि ***'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु······॥'*** (१। १४६) इसी तरह देवताओंको शिव-विवाहकी उत्कट लालसा होनेपर कहा है। यथा—***'सकल सुरन्ह के हृदय अस संकर परम उछाहु। निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिबाहु॥'*** (१। ८८)***'यह उत्सव देखिअ भरि लोचन। सोइ कछु करहु मदन मद मोचन॥'***] पुनः [(ख) ***'भरि लोचन सोभा निरखि'*** इति। भाव कि शोभा (समुद्र) को देख (पा) कर नेत्रोंमें भर लिया है। मिलान कीजिये शरभङ्गजीकी दशासे—***'देखि राम मुखपंकज मुनिबर लोचन भृंग। सादर पान करत अति धन्य जनम सरभंग॥'*** (३। ७) पुनश्च यथा—***'बहुरि राम छबि धाम बिलोकी। रहा ठठुकि एकटक पल रोकी॥'*** (५। ४५) ***'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एक टक रहे नयन पट रोकी॥'*** (१। १४८) आसन आसीन होनेपर सब कृत्यसे सावकाश हुआ तब शोभाका भरपूर देखना कहा। (खर्रा)]

टिप्पणी—३ ***'मुनिबर परम प्रबीन जोरि पानि अस्तुति करत'*** इति। —मुनिवरसे शास्त्रज्ञाननिपुण और परम प्रवीणसे अनुभवज्ञान (अर्थात् विज्ञान) निपुण जनाया। पुनः, **'परम प्रवीण'** कहा; क्योंकि प्रभुका परात्परस्वरूप जानकर वैसी ही स्तुति कर रहे हैं। ['प्रवीण'=श्रीरामजीकी महिमा जानकर संशयोंको त्यागकर जो उनका भजन करे। यथा—***'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन॥'*** (७। १२२) पुनः **'वीणा प्रगायति इति प्रवीणः।'** (अमरव्याख्यासुधा) वीणा बजाते हुए जो भगवान्‌की स्तुति करे वह भी प्रवीण है। श्रीवचन है कि **'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।'** (प० प० प्र०) मानसमें यह शब्द प्रायः 'निपुण, कुशल वा चतुर' अर्थमें आया है। **'परम प्रबीन' शब्द** प्रायः तीन बार और मानसमें आया है। यथा—***'सोइ उपाय तुम्ह करेहु सब पुरजन परम***

प्रबीन।' (२। ८०) *'धीर धरम गति परम प्रबीना।'* (३। ४५। ९) *'रामभगति पथ परम प्रबीना।'* (७। ६२। ३) पहलेमें श्रीअवधवासियोंके, दूसरेमें संतोंके और तीसरेमें श्रीभुशुण्डिजीके सम्बन्धमें आया है। यहाँ महर्षि अत्रिजीके लिये धर्मगति और श्रीरामभक्तिमें परम कुशल होनेसे *'परम प्रबीन'* विशेषण दिया गया। इसमें जो बातें होनी चाहिये सब आ गयीं।] ब्रह्माके पुत्र हैं जैसे ब्रह्माजी स्तुति करते हैं वैसे ही ये भी स्तुति करते हैं, यथा—*'सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलकि नयन बह नीर। अस्तुति करत जोरि कर सावधान मति धीर॥'* (१। १८५) बड़ेकी स्तुति हाथ जोड़कर की जाती है। *'जोरि पानि'* से भी ऐश्वर्यभाव दिखाया, यथा—*'कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनंता……।'* (१। १९२) (कौशल्याजीकृत स्तुति), *'गई भवानी भवन बहोरी। बंदि चरन बोली कर जोरी॥'* (१। २३५) इत्यादि।

टिप्पणी—४ *'करि पूजा'* आदिमें कहकर *'अस्तुति करत'* तक षोडशोपचार सूक्ष्मरीतिसे दिखाया। 'षोडशोपचार यथा—'**आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्रं चाभरणानि च॥ सुगन्धं सुमनो धूपं दीपं नैवेद्यवन्दनम्।**' यहाँ—*'सादर निज आश्रम तब आने'* इत्यावाहनम्—(१)। *'प्रभु आसन आसीन'* इत्यासनम्—(२)। '**प्रेम बारि द्वौ जन अन्हवाये**' इति स्नानम्—(३)। *'दिये मूल फल प्रभु मन भाये'* इति नैवेद्यम्—(४) *'जोरि पानि अस्तुति करत'* इति वन्दनम्-(५)। और *'करि पूजा'* में अन्य सब उपचार भी जना दिये।

नोट—इसी प्रकार प० पु० उ० अ० २४२ में प्रायः सब प्रधान उपचारोंद्वारा श्रीरघुनाथजीका पूजन हुआ है। यथा—'**आसने सुशुभे मुख्ये निवेश्य सह सीतया। अर्घ्यं पाद्यं तथाचामं वस्त्राणि विविधानि च॥**' (२१५) **मधुपर्कं ददौ प्रीत्या भूषणं चानुलेपनम्।……दिव्यान्नपानभक्ष्याद्यैर्भोजयामास राघवम्॥**' (२१७) '**तेन संपूजितस्तत्र भक्त्या परमया नृपः।**' अर्थात् श्रीअत्रिजीने श्रीजानकीजीसहित रघुनाथजीको आसनपर बैठाकर परम भक्तिके साथ अर्घ्य, पाद्य, आचमन, मधुपर्क, वस्त्र, आभूषण, चन्दन और दिव्य अन्नपानादि नैवेद्य इत्यादिद्वारा उनका सम्यक् प्रकारसे पूजन किया।

(नगस्वरूपिणी छन्द)

नमामि भक्तवत्सलं कृपालु शील कोमलं। भजामि ते पदाम्बुजं अकामिनां स्वधामदम्॥ (१)

अर्थ—हे भक्तवत्सल, दयालु और कोमल स्वभाववाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ। निष्काम भक्तोंको अपना धाम देनेवाले आपके चरणकमलोंको मैं भजता हूँ॥ (१)

नोट—१ (क) यह स्तुति नगस्वरूपिणी छन्दमें की गयी है। इस वृत्तके चारों चरणोंमें ८, ८ अक्षर होते हैं और दूसरा, चौथा, छठा और आठवाँ वर्ण चारों चरणोंका गुरु होता है। इस काण्डमें ऐसे १२ छन्द आये हैं। नग पर्वतको कहते हैं। यहाँसे आगेकी यात्रामें बराबर पहाड़ और पहाड़ी वन मिलेंगे, यहींसे पहाड़की यात्रा प्रारम्भ हुई है, यह बात प्रथम ही स्तुतिको इस वृत्तमें देकर जना दी। (ख) मा० हं० कार लिखते हैं कि—अत्रिस्तव नगस्वरूपिणी अथवा प्रमाणिका छन्दमें रचित है। यह छन्द स्वयं ही बड़ा लोचवाला होता है। स्वामीजीने उसकी योजना करके अपने अत्रिस्तवको विशेष मोहकता प्राप्त कर दी है। प० प० प्र० लिखते हैं कि प्रामाणिक भक्तोंके लिये भगवान् क्या-क्या करते हैं, उनके पारमार्थिक योगक्षेमको कैसे चलाते हैं यह ठौर-ठौरपर यहाँ ध्वनित किया है। इस विचारसे यह स्तुति प्रमाणिका छन्दमें की गयी। मानसकी मुख्य अट्ठाईस स्तुतियोंमें यह स्तुति अत्यन्त प्रलोभनीय है। इसके प्रत्येक तीसरी मात्रापर ताल आनेसे पढ़ने एवं गानेमें एक प्रकारकी मस्ती-सी आ जाती है। दोहा १ में जो सिद्धान्त *'अति कृपालु रघुनायक सदा दीन पर नेह'* ग्रथित किया, उसका ही विस्तार इस स्तुति तथा इस काण्डके बहुत-से प्रसङ्गोंमें हुआ है। अतएव प्रथम छन्दके प्रथम चरणमें इस सहज स्नेहका ही कथन महर्षिने किया है। (ग) स्तोत्र चार प्रकारके हैं, यथा—'**द्रव्यस्तोत्रं गुणस्तोत्रं कर्मस्तोत्रं तथैव च। तथैवाभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेवं चतुर्विधम्॥**' (मत्स्यपुराण अ० १४४) (पु० रा० कु०) (घ) नगस्वरूपिणी छन्दका भाव कि 'अचलता, गिरिकाननविहारी राम प्रतिपाद्य, और धराधर भूभारहरण पालन-हेतु चले हैं यह बात बिना कहे भी कुछ-

कुछ छन्दसे ज्ञात होती है। जैसे स्रग्धरा छन्दसे बिना कहे माला निकलती है। (प्र०)।

टिप्पणी—१ (क) '**भक्तवत्सलं कृपालु शील कोमलम्**'। भक्तोंके लिये वात्सल्य, औरोंके लिये कृपालुता, यथा—'*सब पर मोरि बराबरि दाया*', और अपराधियोंके लिये शील और कोमलता ऐसी कि जयन्तका वध उचित था तो भी उसे छोड़ दिया। (ख) 'भक्तवत्सल' अर्थात् जैसे गौको बछड़ा अत्यन्त प्यारा होता है वैसे ही आपको भक्त प्रिय हैं। पुनः, जैसे वह परबस चरने जाती है तो हंकारकर दौड़ती बच्चेके पास आती है और कभी-कभी खूँटातक उखाड़कर उसके पास पहुँचती है, यथा—'*जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं। दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥*' (७। ६) वैसे ही आपको भक्त प्रिय हैं, यथा—'*जेहि जनपर ममता अति छोहू।*' (१। १३। ६) '*बालक सुत सम दास अमानी।*', '*करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥*' (४३। ५-८) इसीसे आप राज्यरूपी बन्धन छुड़ाकर हमको दर्शन देने आये, यथा—'*नवगयंद रघुबीर मन राजु अलान समान। छूट जानि बन गवन सुनि उर अनंद अधिकान॥*' (२। ५१) विशेष '*भगत बछल प्रभु कृपानिधाना।*' (१। १४६। ८) देखिये। भक्तवत्सलता भुशुण्डिजीके प्रसङ्गमें देखिये—'*भगत बछलता प्रभु कै देखी।*' (७। ८३। ७) पुनः, [भक्तवत्सलका भाव कि हम बछड़ेके समान हैं। नित्य-नैमित्तिकादि कर्मोंकी रस्सीमें बँधे हुए हैं। इससे आपके पास नहीं पहुँच सके और आप हमें कृतार्थ करनेको पहुँच ही गये। (रा० प्र०) पुनः, गौ अपने बछड़ेकी मलिनताका खयाल नहीं करती किंतु मलिनताको चाटकर दूर कर देती है, इसी तरह जो प्रभुकी शरण आता है उसके दोषोंको दूर करके वे शुद्ध करते हैं—यह भी भाव 'भक्तवत्सल' पदमें है। (पं० रा० व० श०) पुनः, '**पुत्रादिस्नेहपात्रेऽभिलाषो यस्यास्ति**' (अमरव्याख्यासुधा) जिसको पुत्रादि स्नेहपात्रोंकी अभिलाषा होती है, उसे वत्सल कहते हैं। भगवान्‌के प्रिय पुत्र तो '*बालक सुत सम दास अमानी।*' (३। ४३) हैं। दोनोंके प्रति उनका अनन्य, अपार, अगाध, अतुलनीय स्नेह रहता है। (प० प० प्र०) '**भजामि**' का अर्थ है 'आश्रय लेता हूँ।' (प० प० प्र०) '*कृपालु शील कोमलं*'—भाव कि भक्तसे बिगड़ जानेपर भी क्रोध नहीं करते, बिगड़ी सुधार देते हैं; यथा—'*अति दयाल गुरु स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा॥ एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥*']

नोट—२ पदाम्बुजके भजनेका भाव वही है जो '*मुनिमन मधुप बसहिं जेन्ह माहीं।*' (१। १४८। १) '*करि मधुप मन मुनि जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहैं।*' (१। ३२४) छन्द।, '*मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए।*' (१। ३२७। २) '*पदकमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना।*' (१। २११) छन्द।, '*रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजै न पासू॥*' (१। १७। ४) '*रामपदारबिंद रति करत सुभावहिं खोइ।*' (७। २४) '*मन मधुपहि पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं।*' (वि० १०५) '*सुमिरत रामचरन जिन्ह रेखा*' (आ०), इत्यादिमें है। भाव कि इन चरणोंका ही सदा स्मरण, ध्यान, मानसिक पूजन करता हूँ, भौंरेकी तरह मेरा मन इन्हींमें लुब्ध रहता है, चरणचिह्नोंका ध्यान करता हूँ, इन्हीं चरणोंका यशगान करता हूँ। यथा—'*जे पदसरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं। जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं॥ जे परसि मुनि बनिता लही गति रही जो पातकमई। मकरन्द जिन्ह को संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई॥*......' (१। ३२४ छन्द) '*ध्वजकुलिस अंकुस कंजजुत बन फिरत कंटक किन लहे।*' (७। १३ छन्द) '**श्याम बरन पद पीठ अरुन तल लसति बिसद नखश्रेनी। जनु रबिसुता सारदा सुरसरि मिलि चली ललित त्रिबेनी॥ अंकुस कुलिस कमल धुज सुंदर भवँर तरङ्ग बिलासा। मज्जहिं सुर सज्जन मुनिजन मन मुदित मनोहर बासा॥**' (गी० ७। १५)

टिप्पणी—२ (क) '*अकामिनां स्वधामदं*' इति। अर्थात् कर्मकाण्डी कर्मोंके फलोंकी कामनाएँ त्यागकर **अथवा** उन्हें आपको समर्पण करके आपके धाम को जाते हैं। पुनः, भाव कि निष्काम होकर चरणोंकी **भक्ति** करनेपर ही आप निजधाम देते हैं, अन्यथा नहीं। (ख) प्रथम श्लोकमें गुण कहा। (ग) '*स्वधामदं*'—**स्वधाम**=निजधाम। [धाम शब्द बड़ा उत्तम है। इसमें सभी तरहके धामों एवं मोक्षोंका समावेश हो गया।

विष्णु-अवतारसे वैकुण्ठ धाम, श्रीमन्नारायणावतारसे क्षीरशायी वैकुण्ठ और परात्पर परब्रह्म रामावतारसे साकेत धाम। पुनः, धाम=तेज; रावण-कुम्भकर्णका तेज आपके तेजमें समा गया, यथा—*'तासु तेज समान', 'तासु तेज प्रभु बदन समाना',* (लं०)। वह भी 'धाम' है। पुनः 'निज धाम' वह है जहाँसे फिर लौटना वा पुनरागमन नहीं होता, जहाँ सब संत जाते हैं। यथा—*'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं।'* (६। ११५) *'देहिं राम तिन्हहूँ निज धामा।'* (६। ४४)*'मम धामदा पुरी सुखरासी।'* (७। ४)*'तुम्हहू दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं।'* (६। १०३) 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।' (गीता ८। २१) इसीको योगिदुर्लभगति, परमगति आदि भी कहते हैं। यथा—*'मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना।'*......*''निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ।'* (३। २७),*'.........गीध गयउ हरिधाम।'*.........' (३२)।'.......*गति दीन्हीं जो जाचत जोगी।', 'जोगि बृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥'*.......*हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।'* (३। ३६) इत्यादि]

निम्न मिलानके प्रसङ्गोंसे इस स्तुतिमें आये हुए विशेषणोंके भाव स्पष्ट हो जायेंगे।

श्रीअत्रिजी	श्रीमनु-शतरूपा-प्रकरण
नमामि भक्तवत्सलं	*भगत बछल प्रभु कृपा-निधाना*
भजामि ते पदांबुजं	*पदराजीव बरनि नहिं जाहीं*
निकाम श्याम सुंदरं.......	*नील सरोरुह नीलमनि नीलनीरधर श्याम।* *लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि-कोटि सतकाम॥*
प्रफुल्ल कंज लोचनं	*नव अंबुज अंबक छबि नीकी*
प्रलंब बाहु विक्रमं	*करिकर सरिस सुभग भुजदंडा*
निषंग चाप सायकं	*कटि निषंग कर सर कोदंडा*
स्वभक्त कल्पपादपं	*सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू*
मनोज वैरि वन्दितं अजादि देव सेवितं	*बिधि हरि हर बंदित पद रेनू*
पदाब्ज भक्ति देहि मे	*सुत बिषयक तव पद रति होऊ*

प० प० प्र०—इस छन्दमें अनुबन्धचतुष्टय भी ध्वनित है। भक्तवत्सल भगवान्‌के 'पदाम्बुज' से विषय, '**भजामि**'से भज्यभजक-भाव, '**अकामिनां**' से पदाम्बुजके अधिकारी और '**स्वधामदम्**' से प्रयोजन (फल) कहा। '**अकामिनां**' से काम, क्रोध, लोभरहित जनाया, क्योंकि काम होनेसे ही क्रोध और लोभ होता है। इस छन्दका '**अकामिनां**' शब्द अगले छन्दके *'निकाम श्याम सुन्दरं'* का बीज है।

☞इस स्तुतिमें भा० दा० जीने प्रायः 'श' की जगह 'स' ही दिया है। पर मानसपीयूषमें काशिराज एवं ना० प्र० आदिके अनुसार हमने 'श' रखा है।

निकाम श्यामसुन्दरं भवाम्बुनाथ मन्दरं। प्रफुल्ल कंज-लोचनं मदादि दोष मोचनं॥ (२)

अर्थ—अत्यन्त श्यामसुन्दर, भवसागर (को मंथन करने) के लिये मन्दराचलरूप, पूर्ण खिले हुए कमलके समान नेत्रवाले, मद आदि दोषोंको छुड़ानेवाले हैं। (२)

टिप्पणी—१ *'निकाम श्यामसुन्दरं.....'* इति। (क) यथा—*'श्यामलगात प्रनत भय मोचन।'*(५। ४५। ४), निकाम=अत्यन्त। यथा—*'कोपेउ समर श्रीराम चले बिसिख निसित निकाम।'* (२०) काम, प्रकाम और निकाम ये सब 'अत्यन्त' वाचक शब्द हैं। [पिछले चरणमें '**अकामिनां**' से अधिकार कहा। अब इस चरणमें अधिकार-प्राप्तिका साधन बताते हैं। कामका बल स्त्री है—*'कामके केवल नारि।'* और स्त्रीमें उसका रूप ही आकर्षणका विषय है। अतः कहते हैं कि श्रीरामजी '**निकाम श्याम सुन्दर**' है। अखिल विश्वमें कोई ऐसा सुन्दर नहीं है। (नोट—श्रीरामके सौन्दर्यपर अन्यत्र कई स्थलोंपर लिखा जा चुका है)। अतः साधन यही है कि उनके सौन्दर्यमें मग्न हो जाओ, काम स्वयं भाग जायगा, फिर तो भगवान्‌को आतुर चले आते देखोगे। (प० प० प्र०)] (ख) *'भवाम्बुनाथमन्दरं'* इति। भवाम्बुनाथ=भव+अम्बुनाथ=भवरूपी समुद्र। 'मंदर' का भाव कि आपको किञ्चित् परिश्रम नहीं होता। अथवा, समुद्रके उत्तम पदार्थ देखने और

प्राप्त करनेके लिये आप भवसागरको मथकर उसमेंसे भक्तरूपी रत्न निकालकर धारण करते हैं। [मिलान कीजिये-*'प्रेम अमिय मंदरु बिरह भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥'* (२। २३८) यहाँ भवसागरके मथनका भाव केवल यही है कि आप जीवोंको जन्म-मरणादि दु:खसे मुक्त करनेवाले हैं।] विशेष आगे नोटमें देखिये। ब्रह्माजी तथा त्रिपुरारि शिवजीने भी स्तुतिमें यह विशेषण दिया है। यथा—*'भव बारिधि मंदर सब बिधि सुंदर……।'* (१। १८६ छं०) *'भवबारिधि मंदर परमं दर।' वारय तारय संसृति दुस्तर॥'* (लं० ११४ छं०) इससे जनाया कि ब्रह्मा और शिवजी भी भवसे डरते हैं।

टिप्पणी—२ *'प्रफुल्ल कंज लोचनं……'* इति। (क) लोचनके साथ मोचन कहकर जनाया कि आपके कृपाकटाक्षमात्रसे मदादि दोष छूट जाते हैं। (ख) इसी प्रकार 'श्यामसुन्दर' के समीप *'भवाम्बुनाथ मंदरं'* कहकर जनाया कि आपका श्यामल शरीर भवको छुड़ानेवाला है, यथा—*'श्यामल गात प्रनत भय मोचन।'* (ग) 'कंजलोचन'से कृपासे परिपूर्ण जनाया। (घ) यहाँ दूसरे पदमें शृङ्गार कहा।

नोट—१ भव=इस संसारका वह भाग जो जीवके अन्त:करणमें है। अर्थात् जिसपर जीवका ममत्व है, जिसको अपना समझकर वह उसके लाभालाभमें सुखी-दु:खी बना रहता है। भवके लिये मन्दररूप कहनेका भाव कि जीवके उस ममत्वको हृदयसे मथकर निकाल देते हो। (रा० प्र० श०)।

नोट—२ *'मदादि दोष',* ये वही मानसरोग हैं जिनका उ० १२१ (२९-३७) में वर्णन है। अर्थात् काम, क्रोध, मोह, ममत्व, ईर्ष्या, अहंकार, तृष्णा, कपट, दम्भ, पाखण्ड, मत्सर इत्यादि। **'भवाम्बुनाथमन्दरं मदादि दोष मोचनं',** यथा—**'मानमदमदनमत्सरमनोरथमथन मोहअम्भोधिमंदर मनस्वी।'** (वि० ५५)

प० प० प्र०—**'भवाम्बुनाथ मंदरं'** इति। मानसमें सागर-मन्थनका रूपक विविधरूपोंमें आया है। समुद्रमन्थनमें जड़ मन्दर पर्वत मथानी, कूर्मभगवान् उसको थामनेवाले, देवासुर मथनेवाले होते हैं; पर भवसागर मन्थनके लिये 'कृपाल शील कोमल नितान्त सुन्दर' श्रीरामजी मन्दररूप तथा कूर्मभगवान् हैं। उनपर दृष्टि लगाये हुए विचार सत्संगरूपी रज्जुसे ही मन्थन करना चाहिये। इस मन्थनसे अमृत (मोक्ष, स्वधाम) की प्राप्ति होगी। मथनेपर प्रथम जो हालाहल, सुरा और बड़वानल उत्पन्न होंगे उनसे रक्षाके लिये अन्य किसीके पास जानेकी आवश्यकता नहीं है, यह तीसरे और चौथे चरणसे जनाते हैं। मद, मोह, मत्सर ही हालाहल, सुरा और बड़वानल हैं। देखिये, काम, क्रोध, लोभरहित होनेपर देवर्षि नारदको *'उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी', 'जिता काम अहमिति मन माहीं।'* यही हालाहल है। अहंकारसे मोह होता है। मोह मदिरारूप है, जिसके पानमें कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञान आदि सब सद्गुणोंका नाश होता है।—*'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* नारदजी इष्टदेवको ही दुर्वचन कह बैठे। बड़वानल=ताप=ज्वर। मत्सरको ज्वर कहा ही है, यथा—*'जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका।'* (७। १२१। ३७) अत: मत्सर बड़वानल हुआ। इन तीनों दोषोंको श्रीरामजी कृपादृष्टिमात्रसे दूर कर देते हैं, यह अगले चरणोंमें कहा है।

प्रलम्ब बाहु विक्रमं प्रभोऽप्रमेय वैभवं। निषंग चाप सायकं धरं त्रिलोक नायकं॥ (३)
दिनेश वंश मण्डनं महेशचाप खण्डनं। मुनीन्द्र संत रंजनं सुरारिबृन्द भंजनं॥(४)

शब्दार्थ—*अप्रमेय* =जो प्रमाणसे अनुमान करके निश्चय न किया जा सके। जिसका अंदाजा नहीं हो सकता। **मण्डन**=भूषण, शोभित करनेवाला।

अर्थ—हे प्रभो! आपकी लम्बी (आजानु) भुजाओंका पराक्रम अतुलनीय है और आपका ऐश्वर्य प्रमाणरहित है, आप तरकश और धनुष-बाण धारण करनेवाले, तीनों लोकोंके स्वामी॥ ३॥ सूर्यवंशके भूषित करनेवाले (आभूषण), महादेवजीके धनुषको तोड़नेवाले, मुनिराजों और संतोंको आनन्द देनेवाले, देवताओंके शत्रु असुरसमूहके नाशक हैं॥ ४॥

नोट—१ (क) **'प्रलम्ब बाहु विक्रमं अप्रमेय वैभवं',** यथा—*'अतुलित भुज प्रताप बल धाम:।'* (१०। १५) (सुतीक्ष्णजी) (ख) **'प्रलम्बबाहु'**—प्रभुकी भुजाएँ घुटनेतक लम्बी हैं, इसीसे आजानुबाहु कहलाते हैं। इन सब चरणोंका भाव यह है कि आप सदा भक्तों, संतों और मुनियों आदिकी रक्षामें तत्पर

रहते हैं। बाहु ऐसी लम्बी और पराक्रमशाली है कि इनसे शत्रु किसी तरह बच नहीं सकता, उसपर भी आप अक्षय त्रोण धनुष और बाण सदा धारण किये रहते हैं, भक्त-दुःख हरण करनेमें किञ्चित् विलम्ब नहीं सह सकते। पुनः, '**प्रलम्बबाहु**' भुशुण्डिजीके प्रसंगमें देखिये; यथा—'***राम गहन कहँ भुजा पसारी।', जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा॥ ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं चितयउँ पाछ उड़ात। जुग अंगुल कर बीच सब राम भुजहि मोहि तात॥ सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि। गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भयउँ बहोरि॥***' (७। ७९) एवं सुं० ४६ (२) में टिप्पणी देखिये। (ग) मिलान कीजिये—'***अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जान नहिं पाई॥***' अभी-अभी लोकको इसका प्रमाण मिल चुका है। अतः '**अप्रमेय वैभवं**' कहा।

प० प० प्र०—अकामिताके होनेपर उसमेंसे प्रादुर्भूत दोषोंका निवारण करके स्वधामकी प्राप्ति कर देना ऊपर कहा। इस प्रकार भक्तिरसामृत तो मिला तथापि उसके चुरानेवाले बहुत हैं। योग तो हुआ पर क्षेम भी चाहिये। श्रीरामजी क्षेम किस प्रकार वहन करते हैं यह अब कहते हैं। '***प्रलंब बाहु विक्रमं***' से जनाया कि आपको कहीं जाना नहीं पड़ता, आपकी भुजाओंका विक्रम सर्वत्र कार्य कर सकता है। भुजाएँ सर्वत्र व्यापक हैं, इससे दृष्टिका भी सर्वव्यापक होना सिद्ध हो गया क्योंकि बिना देखे भुजा भुशुण्डिजीका सर्वत्र पीछा कैसे करती? '**प्रभोऽप्रमेय वैभवम्**' से बताया कि आपके भक्तोंको योग-क्षेमकी चिन्ता और प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं। भगवान्‌का सम्पूर्ण ऐश्वर्य भक्तका है। अब रही शरीर-प्राणोंके रक्षणकी बात वह '***निषंग चाप*** ·······' में बताते हैं।

नोट—२ '**त्रिलोक नायकं**' कहकर '**दिनेश वंशमंडन**' कहनेका भाव कि वे ही आप सूर्यवंशको भूषित करनेवाले हुए हैं। 'दिनेशवंश' कहनेका भाव कि यह वंश बड़ा प्रतापी, तेजस्वी, उदार और शरणपाल हुआ है, इसीसे आपने उसमें अवतार लिया जिसमें आपको कोई जान न पाये, सब दशरथ-नन्दन राजकुमार ही समझें। '***इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥***' (१। १५२। २) तथा '***अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा॥***' (१। १८७। २)' देखिये। '***महेश चाप-खंडनं***' से त्रैलोक्य-विजय-श्रीसहित आदिशक्ति श्रीसीताजीका पाणिग्रहण कहा।

वि० त्रि०—सरकारके धनुष-बाण अखण्ड दण्डायमानकाल तथा खण्डकालके प्रतीक हैं। निषङ्ग खण्डकालोंका कोष है। यथा—'***लव निमेष परमानु जुग बर्ष कल्प सर चंड। भजसि न खल तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड॥***' अतः त्रिलोकनायक कहा। यहाँतक नित्य दिव्य मूर्तिका वर्णन है।

पु० रा० कु०—१ (क) मुनीन्द्र-सन्त रञ्जन हैं, अतएव '***सुरारिवृन्दभंजन***' हुए। उन्हींके लिये दुष्टोंका दलन करते रहते हैं, यथा—'**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥**' (गीता ४। ८)' '***तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥***' (५। ४८), '***निसिचर हीन करउँ महि*** ·······***मुनिन्हके आश्रमन्ह जाइ जाइ सुख दीन्ह॥***' (३। ९) [अत्रिजी ऐश्वर्यके उपासक हैं, अतः वे अगस्त्यजीकी भाँति यह नहीं कहते कि '***कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया।***' (३। १३। १०) (प० प० प्र०)] (ख) त्रिलोकनायक हो, अतः लोकोंकी रक्षाके लिये धनुष-बाण धारण किये हो। (ग) '**दिनेशवंशमण्डन**' का भाव कि यह वंश जगत्‌का भूषण है और आप उस वंशके भी भूषण एवं भूषितकर्ता हैं। (घ) 'महेशचाप' कहकर धनुषकी कठोरता दिखायी। जो किसीसे न टसका उसे भी आपने तोड़ डाला। (ङ) छन्द (३) में वीरस्वरूप और (४) में रामायण है।

२ (क) यहाँ भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों दिखाये। त्रिलोकके स्वामी थे, वही वर्तमानमें रघुकुल-भूषण हुए और अब मुनियों, सन्तोंको सुख देनेके लिये निशाचरोंका नाश करने जा रहे हैं इत्यादि। (ख) सातों काण्डोंका चरित इन विशेषणोंद्वारा कहा गया है। '**भक्तवत्सलं त्रिलोकनायकं**' से पूर्व मनु-शतरूपा आदिका प्रसङ्ग कहा। '**दिनेशवंशमण्डनं**', '**महेशचापखण्डनं**' से जन्मसे विवाहतक बालकाण्ड समाप्त किया। '**मुनीन्द्रसन्तरंजनं**' से राज्यत्याग अयोध्याकाण्ड हुआ, '**सुरारिवृन्दभंजनं**' से अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और

लङ्काकी कथा रावण-वधतक कही। तत्पश्चात् '**मनोजवैरिवंदितं अजादि देवसेवितं**' से निशाचर-नाशपर सबकी वन्दना एवं रामराज्याभिषेक आदि कहे और '**विशुद्धबोधविग्रहं समस्तदूषणापहम्**' से शान्त राम-राज्य कहकर उत्तर रामचरित समाप्त किया। यथा—'*रामराज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका॥*' (७। २०) [(ग) श्रीबैजनाथजीका मत है कि भक्तवत्सलसे अवतारका कारण कहा, '**मुनीन्द्र सन्तरंजनं**' से चित्रकूट और दण्डकारण्यकी लीला अर्थात् अरण्यकाण्ड हुआ। '**सुरारिवृन्दभंजनं**' से रावण-वधका उपाय एवं उसका वध अर्थात् किष्किन्धा, सुन्दर और लङ्काकाण्ड हुआ। आगे '**सशक्ति सानुजं**' से राज्य, 'जगद्गुरुं' से अपने आचरणसे प्रजा आदिको उपदेश और '**अद्भुतं**' से आदर्श राज्य एवं साकेतयात्रा, यथा—'*बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम। प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निजधाम॥*' (१। १०१) इसी विषयपर रा० प्र० के भाव छन्द ११, १२ में देखिये।]

मनोजवैरिवंदितं अजादि देव सेवितं। विशुद्ध बोध विग्रहं समस्तदूषणापहं॥५॥
नमामि इंदिरापतिं सुखाकरं सतां गतिं। भजे सशक्ति सानुजं शचीपतिप्रियानुजं॥६॥

अर्थ—कामदेवके शत्रु श्रीमहादेवजीसे वन्दित, ब्रह्मादि देवताओंसे सेवित, विशेष निर्मल ज्ञानके विग्रह (मूर्तिमान् स्वरूप) और समस्त दोषोंके नाशक आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ५॥ लक्ष्मीके पति, सुखकी खानि, सत्पुरुषोंकी (एकमात्र) गति आपको मैं नमस्कार करता हूँ। इन्द्राणीके पति इन्द्रके प्रिय छोटे भाई, आदिशक्ति श्रीसीताजी और भाई लक्ष्मणसहित आपको मैं भजता हूँ॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) '**मनोजवैरिवंदितं अजादि देव सेवितं**'—यहाँ शिवजी और ब्रह्मादिको निवृत्ति और प्रवृत्तिके भेदसे पृथक्-पृथक् कहा। '**अजादि देव सेवितं**', यथा—'*सुर बिरंचि मुनि जाके सेवक।*' पुनः शिवजी सदा यश गाते रहते हैं। उनको कुछ काम नहीं है और अन्य सब देवताओंको अनेक काम दिये हैं जिनमें वे सब लगे रहते हैं, अतः देवताओंसे सेवित कहा। यथा—'*सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥*' (६। २२। १) पुनः भाव कि शिवजी ब्रह्मा-विष्णु आदि सबसे वन्दनीय हैं। यथा—'*संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥ तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥*' (१। ५०। ६-७), '**सिद्ध सनकादि योगीन्द्र वृन्दारका बिष्नुबिधिबन्द्य चरनारविन्दं।**'(वि० १२) सो आप उन शिवजीसे भी वन्दित हैं। यथा—'**कोसलेन्द्रपदकंजमंजुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ।**'(७ मं० २) यहाँ मनोजवैरि (कामारि) विशेषण (क्रियावाचक नाम) देकर कामदेवको जलानेवाला पूरा प्रसङ्ग स्मरण कराते हैं कि वहाँ ब्रह्मा, विष्णु आदि सभी देवताओंने जाकर वन्दना की तब उन्होंने कहा था कि '*कहहु अमर आएहु केहि हेतू।*' '*अजादि*······' का भाव कि ब्रह्मा सृष्टिके रचयिता हैं और लोकपालादि सभीके स्वामी हैं तथा सभीसे वन्द्य हैं सो वे भी आपकी सेवा करते हैं अर्थात् आप सबके स्वामी हैं, सब आपके सेवक हैं। (प्र०) (ख) '**विशुद्धबोधविग्रहं**' अर्थात् भीतर-बाहर विशुद्ध ज्ञान ही ज्ञानरूप हो जैसे स्वर्ण भीतर-बाहर सब स्वर्ण ही है, बोध ही देह है अर्थात् चिन्मय शरीर है। यथा—'**शुद्ध बोधायतन सच्चिदानंदघन**' (वि० ५५), '**ज्ञानघन सच्चिदानंदमूलं**' (वि० ५३), '*ज्ञान अखंड एक सीतावर*', *चिदानंदमय देह तुम्हारी*' में जो भाव है वही 'बोधविग्रह' का है। '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (इति श्रुतिः) (ग) '**विशुद्धबोधविग्रहं**' कहकर तब '**समस्त दूषणापहं**' कहा क्योंकि ज्ञान समस्त दूषणोंका नाशक है, यथा—'*जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रियगन उपजें ज्ञाना॥*' (४। १५) इस श्लोकमें भी रामायण कही। '*विशुद्ध*······' से यह जनाया कि आप माया सबल ब्रह्म नहीं है तथा सर्वविकाररहित हैं।

प० प० प्र०—१ अन्यत्र '*बिधि हरिहर बंदित पद रेनू*' कहा है। पर यहाँ '*हरि*' को न कहनेका कारण छन्द ६ में दिया है। 'मनोजवैरि' नाम देकर यह भी जनाया कि 'अकाम' होनेपर भी वे भजन करते हैं इसी प्रकार जो कामादिरहित हैं उनको भी भजन करना चाहिये, यह उपदेश है।

२—'*विशुद्ध बोधविग्रहं*······'—आप जन्मादि छः प्रकार, षड्वर्मि, अवस्था-भेद, स्वगतादि भेद इत्यादि दोषोंके नाशक हैं, अतः आपमें ये दोष कहाँ? निर्दोषका चिन्तन करनेसे निर्दोषता प्राप्त होती है। यथा—'**निर्दोषं**

हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।' (गीता ५। १९) **'मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते।'** (भा० ११) भगवद्विग्रह पञ्चभूतमय नहीं है। यथा—**'अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य……।'** (भा० १०। १४। २) ब्रह्मस्तुति

टिप्पणी—२ (क) **'नमामि इंदिरापतिं सुखाकरं'**. इति। भाव कि आपको कुछ एक लक्ष्मीका ही सुख नहीं है वरन् आप समस्त सुखोंकी खानि हैं, आपके सुखके एक छींटा सीकर मात्रसे संसार भरका सुख है, यथा—***'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा॥'*** (१। १९७। ५) [पुनः, **'नमामि इंदिरापतिं'** कहकर फिर **'भजे सशक्ति सानुजं'** कहनेका भाव यह है कि श्रीपति आदि अन्य आपके रूपोंको मैं नमस्कार मात्र करता हूँ पर भजता श्रीसीतालक्ष्मण-संयुक्त आपको ही हूँ। अर्थात् यह रूप उपास्य है]। (ख) ['सुखाकर' सुखकी खानि कहकर 'आनन्दघन' जनाते हुए ब्रह्म जनाया—**'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।'** (तैत्ति० ३। ६) अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है इस प्रकार निश्चयपूर्वक जाना। पुनः यहाँ 'सुखाकर' कहा क्योंकि आगे इन्द्रका 'प्रिय अनुज' कहकर इन्द्रको सुखदाता हुए यह कहेंगे। **'सतांगतिं'** सज्जनोंकी गति कहनेका भाव कि आप सन्तोंको अपना धाम देते हैं, उनके एकमात्र आश्रय हैं, यथा—***'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं।'*** (६। ११५) **'सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।'** (वाल्मी० १। १। १६) अर्थात् जैसे समुद्र नदियोंसे मिला करता है वैसे ही आप सज्जनोंसे मिला करते हैं (उनकी भीड़ सदा लगी रहती है क्योंकि आप ही उनके आश्रय हैं), **'परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते।'** (वाल्मी० ३। ६। २०) अर्थात् इस पृथ्वीपर आपको छोड़ दूसरा रक्षक हमलोगोंको दिखायी नहीं पड़ता। (यह दण्डकारण्यके ऋषियोंने स्वयं प्रभुसे कहा है।—यह इस काण्डका चरित सूचित करता है कि ऋषि आपकी शरण आयेंगे और आप रक्षाकी प्रतिज्ञा करेंगे [(ग) **'शचीपति प्रियानुजं'**। अदितिके पुत्र इन्द्रादि हैं और उन्हींसे वामन अवतार हुआ, अतः भाई हुए! 'प्रिय' क्योंकि इन्द्रका राज्य जो बलिने छीन लिया था वह उससे भिक्षाद्वारा लौटाकर वामनजीने इन्द्रको पुनः दिया। प्रियत्वके कारण भीख माँगी। भाव कि वहाँ तो बलिसे राज्य लेकर इन्द्रको दिया था और यहाँ रावणवध करके इन्द्रादिको सुखी करोगे। 'अनुज' छोटे भाईको कहते हैं, यहाँ भगवान्‌का वामन अवतार इन्द्रके पीछे हुआ, अतः 'अनुज' कहा। वामनजीकी कथा अ० ३० (७) में देखिये। इस श्लोकमें द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत तीनोंका मत कहा। **'इन्दिरापतिं'** से द्वैत, **'सुखाकरं सतां गतिं'** से अद्वैत और **'सशक्ति सानुजं'** से विशिष्टाद्वैत।

प० प० प्र०—**'भजे सशक्ति सानुजं'** इति। श्रीसीताजी ब्रह्मविद्या हैं, ऐसा स्कन्दपुराणमें कहा है। लक्ष्मणजी परम वैराग्य हैं। इन दोनोंकी कृपाके बिना ज्ञानका कुछ उपयोग होता ही नहीं। श्रीरामजी केवल ज्ञातिस्वरूप हैं। अतः प्रथम पूजन श्रीलक्ष्मणजीका ही करना चाहिये। श्रीसीताजी उद्भवस्थितिसंहारकारिणी क्लेशहारिणी सर्वश्रेयस्करी हैं और लक्ष्मणजी ***'लच्छन धाम रामप्रिय सकल जगत आधार'*** हैं, अतः दोनोंका भजन आवश्यक है।

पां०—***'शचीपति प्रियानुजं'*** में भाव यह है कि जैसे बलिको छलकर देवताओंकी रक्षा की थी वैसे ही रावणको छलकर देवरक्षाहेतु आपने यह नररूप धारण किया है। यही रावणके साथ छल है; क्योंकि उसको वर था कि देवतादिके हाथसे न मरे और मनुष्य ऐसा बली कहाँ कि उसे जीत सकता?

प० प० प्र०—***शचीपति प्रियानुजं'*** कहकर जनाया कि आपने आज ही नहीं किन्तु पूर्वकालमें भी वामनरूपसे अवतार लेकर सुररंजन कार्य किया था और करते हैं। यथा—***'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हहि नसायो॥', 'बामन परसुराम बपु धरी'*** (६। १०९)।

खर्रा—**'समस्तदूषणापहं'** तक मनुप्रतिपादित रामजीकी वन्दना है। और **'नमामि इन्दिरापतिं'** में विष्णु-अवतार रामकी वन्दना है।

वि० त्रि०—'इन्दिरापति' कहकर श्रीरामजीका राज्याभिषेक कहा; यथा—***'राम बाम दिसि सोभति रमारूप***

गुन खानि।' (७। ११); 'सुखाकर' से रामराज्यकी सुख-सम्पदा कही, यथा—*'रामराज कर सुख संपदा। बरनि न सकहिं फनीस सारदा॥'* *'सतां गतिं'* से सन्तोंका दर्शनार्थ आगमन कहा, यथा—*'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥ दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं।'* सरकार गुणातीत और भोग-पुरन्दर हैं, अतः शचीपति प्रियानुज कहा।

त्वदंघ्रिमूल ये नराः भजंति हीन मत्सराः। पतंति नो भवार्णवे वितर्कवीचि संकुले॥ (७)
विविक्तवासिनः सदा भजंति मुक्तये मुदा। निरस्य इंद्रियादिकं प्रयांति ते गतिं* स्वकं॥ (८)

अर्थ—जो मनुष्य मत्सररहित होकर आपके चरणमूलको भजते हैं, वे तर्क-वितर्करूपी लहरोंसे परिपूर्ण (भरे हुए) संसारसागरमें नहीं गिरते॥ ७॥ सदा एकान्तवासी, इन्द्रियादिके विषयोंसे उदासीन, जो मुक्तिके लिये आनन्दपूर्वक आपको भजते हैं वे 'स्वकीय' गतिको प्राप्त होते हैं॥ ८॥

नोट—*'अंघ्रिमूल'*=चरणका मूल अर्थात् तलवेमें ही चिह्न होते हैं जिनका ध्यान उपासक करते हैं। यथा—*'पदराजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥'* जहाँ-जहाँ चरणोंका ध्यान कहा है वहाँ-वहाँ चिह्नका ही ध्यान अभिप्रेत है। रज भी तलवेकी होती है जिसको शिरोधार्य करते हैं और जिसकी वन्दना की जाती है, चरणामृत भी तलवेका ही उतारा जाता है, अतः 'भजन्ति' के सम्बन्धसे 'अंघ्रिमूल' पद दिया। **'त्वदंघ्रिमूल ये नराः भजन्ति'** अर्थात् सगुणोपासक। [**'पतंति नो भवार्णवे'** से सूचित किया कि साकेत, वैकुण्ठ आदि नित्य अविनाशी धाममें जाते हैं। **'अकामिनां स्वधामदं'** के ही भावको **'भजंति हीन मत्सरा पतंति नो भवार्णवे'** से स्पष्ट किया। **'मत्सराः'** से कामादि मत्सरान्त सब मानस रोगोंका ग्रहण है।]

टिप्पणी—१ (क) **'त्वदंघ्रि······भजंति····पतंति——'** का भाव कि जो लोग मत्सरयुक्त हैं और जो आपका भजन नहीं करते वे भवसागरमें गिरते हैं। यथा—*बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादरके फल ये॥ भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते॥ अति दीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्हके पद पंकज प्रीति नहीं॥'* (७। १४) मिलान कीजिये *'मोह जलधि बोहित तुम्ह भए।'* (७। १२५) पुनः, इससे जनाया कि उपासक भवसमुद्रमें नहीं पड़ते, यथा—**यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां।**' (१ मं० श्लो० ६) (ख) यहाँ उपासकोंकी मुक्ति स्पष्ट न कही। इसका कारण यह है कि उपासक मोक्ष नहीं चाहते, यथा—*'राम उपासक मोच्छ न लेहीं।'* (प्र० स्वामीका मत है कि 'अंघ्रिमूल' का अर्थ दक्षिण पदाङ्गुष्ठ लेना उचित होगा क्योंकि वही सर्वश्रेष्ठ गिना गया है। *'पदनख निरखि देवसरि हरषी।'* तथा '**नखनिर्गता मुनिबंदिता त्रैलोक्य पावन सुरसरी।**' में भी दक्षिणाङ्गुष्ठकी ही सूचना है)। (ग) श्लो० ७ में चरणसेवाका फल कहा और ८ में भजनकी विधि कही। (घ) **विविक्तवासिनः** अर्थात् ज्ञानी आपका भजन इस प्रकार करके वैकुण्ठको जाते हैं। (ङ) **'वितर्क बीचि संकुले'**, यथा—*'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानतवेद॥'* (१। ५०)*'·····अस संसय मन भयउ अपारा';* यही और इसी प्रकारके सब संशय तर्क-वितर्क हैं। एक तर्कपर दूसरी, दूसरीपर तीसरी इत्यादिका उठना लहरोंका उठना है। यथा—*'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥'* (७। ९३। ६) सागरमें नित्य नयी तरंगें उठती रहती हैं, वैसे ही भवसागरमें तर्क-कुतर्करूपी लहरें उठा करती हैं जिनमें पड़कर प्राणी डूब जाते हैं। 'संकुल' कहा क्योंकि तर्क-वितर्क होनेपर उनका क्रम समाप्त होनेमें नहीं आता इसीको बालकाण्डमें 'अपार' कहा है। (च) 'मुदा' का भाव कि आपकी सेवामें अपनेको भाग्यवान् मानते हैं, अतः हर्षपूर्वक करते हैं, लाचारी वा जबरईसे किसीके भयसे नहीं। (छ) **'गतिं स्वकं'**, यथा—*'जीव पाव निज सहज सरूपा।'* (३६। ८)। वा **'गतिं स्वकं'**=आपका निज धाम। वा, मोक्ष—[**'मुक्तये'** के सम्बन्धसे यह **'गतिं स्वकं'** मुक्ति हुई। पाँड़ेजी **अर्थ** करते हैं—आपकी निज गतिको प्राप्त होते हैं। यही अर्थ करुणासिंधुजीका है। पुनः **'गतिं स्वकं'**=नित्य **विग्रह** मुक्ति पद। (बै०) आत्मीय अर्थात् आत्मसम्बन्धी गति]।

* भा० दा० और पं० रा० गु० द्वि० में 'गति स्वकं' पाठ है।

वि० त्रि०—'**त्वदंघ्रिमूल······स्वकं**' इससे भक्ति और मुक्ति दोनोंके लिये भजनका उपदेश देते हैं। '**त्वदंघ्रिमूल········**' में भक्ति और '**विविक्त·······**' में मुक्ति कही। यथा—'***राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥***' ये देहेन्द्रियोंको अपनेसे पृथक् मानते हुए अन्वय व्यतिरेकद्वारा स्वात्मगति अर्थात् कैवल्यको प्राप्त होते हैं।

प० प० प्र०—१ '**विविक्तवासिनः सदा**', '**भजंति मुक्तये मुदा**', '**निरस्य इंद्रियादिकं**' इन तीन चरणोंसे बताया कि ज्ञानी लोग राजयोगद्वारा आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं। इन्द्रियादि अव्यक्तान्त समस्त तत्त्वोंका निरास करनेपर ही आत्मसाक्षात्कार होता है। '**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥**' (कठ० १। ३। १०-११)—इस रीतिसे इन्द्रियोंसे प्रारम्भ करके अव्यक्ततक एक-एक तत्त्वका निरास करनेपर '**सोऽहमस्मि**' (वृत्ति आवेगी)। '**ब्रह्माहमस्मि**' यह वृत्ति तैलधारावदविच्छिन्न रखेगा तब सबीज समाधि प्राप्त होगी और पश्चात् निर्बीज समाधि भी होगी। ऐसी समाधि होनेपर '**प्रयान्ति ते गतिं स्वकं।**'

प० प० प्र०—२ '**गतिं स्वकं**'-पुँल्लिङ्ग 'क' का अर्थ ब्रह्म या आत्मा है, नपुंसक लिंगमें 'क' का अर्थ सुख है। इस तरह स्वकं=अपनी आत्मा!=आत्मसुख। आत्मानुभव सुखकी प्राप्ति ही गति है।—'***आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा॥***' (७। ११८। २) '**न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इहैव तस्य प्रविलीयन्ति कामाः**' (मुण्डक०)। यह कैवल्य मुक्ति या विदेह मुक्ति है 'केवलता' श्रीरामजीका ही निर्गुण निराकार रूप है, यह अगले छन्दमें बताते हैं। कैवल्य=केवली भाव; केवलरूपमें समा जाना। 'मुदा' शब्दसे हठयोगका निरास किया, क्योंकि उसमें सब क्रियाएँ बलात् की जाती हैं।

प० प० प्र०—३ इन छन्दोंमें सगुणोपासकोंका उल्लेख प्रथम करके बताया कि महर्षि अत्रिजी तथा वक्ता दोनों ही सगुणोपासक हैं—'***सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं।***' (६। १११। ७) गरुड़जीका झुकाव ज्ञानकी तरफ विशेष होनेसे उन्होंने '***ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता***' ऐसा प्रश्न किया था तथापि भुशुण्डिजीको भक्ति विशेष प्रिय होनेसे उन्होंने '***भगतिहि ज्ञानहि कछु नहिं भेदा***', ऐसा कहा है।

त्वमेकमद्भुतं[१] प्रभुं निरीहमीश्वरं विभुं। जगद्गुरुं च शाश्वतं तुरीयमेव केवलं॥ (९)
भजामि भाववल्लभं कुयोगिनां सुदुर्लभं। स्वभक्त कल्पपादपं समं सुसेव्यमन्वहं॥ (१०)

अर्थ—आप एक (अद्वितीय), अद्भुत, समर्थ स्वामी, चेष्टा एवं इच्छारहित, ईश्वर, व्यापक, जगन्मात्रके गुरु और सनातन, तुरीयरूप ही और केवल हैं॥ ९॥ (पुनः) भावप्रिय, कुयोगियोंको अत्यन्त दुर्लभ, अपने भक्तोंके लिये कल्पवृक्षरूप सबको समान (समदृष्टि, विषमतारहित) और निरन्तर दिन-प्रतिदिन सेवा करने योग्य (सुस्वामी) ऐसे आपको मैं निरन्तर भजता हूँ॥ १०॥

नोट—१ (क) 'एक' अर्थात् आपका-सा दूसरा कोई नहीं है, आपके समान आप ही हैं। 'अद्भुत' अर्थात् नाम, रूप, लीला सभी आपके विलक्षण और आश्चर्यजनक हैं। यथा—'***आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥ बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥······असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥***' (१। ११७) '**तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥** (ईश० मन्त्र ५) (वह आत्मतत्त्व चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्तर्गत है और वही सबके बाहर भी है)। '***हरषित महतारी मुनिमन हारी अद्भुत रूप बिचारी।***' (१। १९२)'***जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥***' (७। ८०) 'निरीह'—११३ (३) देखो। ईश्वर=षडैश्वर्ययुक्त। (भाव कि निर्गुणरूपमें आप जगत्से विलक्षण हैं, सगुण रूपसे अद्भुत हैं, प्रभु होनेपर भी निरीह हैं और ईश्वर होनेपर भी विभु हैं, अतः सभी प्रकारसे आप अद्भुत हैं। वि० त्रि०) 'जगद्गुरु'

१ भा० दा० की पोथीमें हरताल देकर 'तमेक' पाठ बनाया गया है। प्रायः अन्य सबोंमें 'त्वमेक' पाठ है। 'तमेक' का अर्थ होगा 'उन आपको जो' संस्कृतकी स्तुति मानें तो 'तं' विशेष उत्तम है।

अर्थात् आपने किसीसे शिक्षा नहीं पायी न किसीके शिष्य हैं वरन् सृष्टिके रचयिता ब्रह्माको भी आपने ही वेद पढ़ाया। जिस श्रुतिमार्गपर शंकरजी स्वयं चलते हैं, यथा—*'जौं नहिं दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा॥'* (प्र० सं०) पुनः **'गुरु'** इति। ब्रह्मा, इन्द्र और वरुणादि देवोंको वेदोंद्वारा अधिकारोंका बोध करानेसे 'गुरु' नाम है। प्रमाण, यथा-**'ब्रह्मेन्द्रवरुणादीनां गुरुर्वेदोपदेशनात्।'** **'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'**(श्वे० श्व० ६। १८), **'हरिगुरुवशगोऽस्मि'** (वि० पु०), **'गुरुर्गुरूणां त्वं देव'**(अ० रा० २। २। २६), वसिष्ठजीने श्रीरामजीसे कहा है कि आप समस्त गुरुओंके भी गुरु हैं। पुनः, सर्वकालमें विच्छेदरहित (एकरस रूपसे) सबके गुरु होनेसे 'गुरु' कहा, यथा—**'सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** (पातञ्जलयोगसूत्र) अथवा, सम्पूर्ण सम्प्रदायोंके प्रवर्तक आद्याचार्य होनेसे 'गुरु' नाम है, यथा—**'सीतानाथसमारम्भां रामानन्दार्य-मध्यगामस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्।'** पुनः सबसे अधिक होनेसे भी 'गुरु' नाम है। राजा बलिने कहा है कि आप हम सबोंको शिक्षा दिया करते हैं, अतः आप हम सबोंके परम गुरु हैं। यथा—**'त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः।'** (भा० ८। २२। ५) (ग) शाश्वत=निरन्तर, आदि-अन्तरहित सनातन। =सदा एकरस अखण्डरूप। (वै०) [जगद्गुरुके साथ शाश्वत भी कहकर जनाया कि आप ही अनादिकालसे सबके गुरु हैं। **'तुरीयम्'** इति। तुरीयावस्था चारों अवस्थाओंमें अन्तिम अवस्था है। भगवान् सदा उसी अवस्थामें रहते हैं। यह अवस्था स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन सबोंसे रहित है। (परात्पर—प० प० प्र०) (घ) **'केवलम्'** इति। केवलके अर्थ 'तुरीयातीत' (प्र०), 'अपने स्वरूपमें स्थित' (गी० प्र०), निश्चित, एक, और सम्पूर्ण, यथा—**'निर्णीते केवलमिति लिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः।'** (अमर० ३। ३। २०२) अमरकोशके अनुसार भाव यह होगा कि आप 'सम्पूर्ण' हैं, निश्चित हैं। 'एक' शब्द स्तुतिमें आ चुका है, अतः वह अर्थ यहाँ नहीं लिया जायगा। (श्वे० श्व० उ०) में भी कहा है। यथा—**'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।'**(६। ११) [तुरीयका भजन जाग्रदवस्थामें कैसे सम्भव है, इसपर कहते हैं कि भाव आपको प्यारा है। जिस भावसे जो भजता है, उसके लिये वैसे ही हो जाते हैं। यथा—*'जाकी माया बस बिरंचि सिव नाचत पार न पावैं। करतल ताल बजाइ ग्वाल जुवती सोई नाच नचावैं॥'*

नोट—२ (क) 'भाववल्लभ' अर्थात् आपको भाव ही प्यारा है, यथा—*'सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परमप्रिय सोइ।'* (७। ८७) *'भावबस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन। तजि ममता मद मान भजिय सदा सीतारमन॥'* (७। ९२)*'प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं।'* (७। ८२) पुनः, *'बलि पूजा चाहत नहीं चाहै एक प्रीति। सुमिरत ही मानै भलो पावन सब रीति॥'*—(विनय १०७) अतः उपर्युक्त भुशुण्डि-उपदेशके अनुसार *'भजामि'* कहा। (वि० त्रि०) 'भाववल्लभ' से ध्वनित किया कि यदि केवल भाव हो, दूसरा कुछ भी अधिकार न हो तो अन्य सब अधिकार भगवान् दे देते हैं। जो जिस भावसे स्मरण करता है उसको उस भावसे ही भगवान् मिलते हैं। *'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'* (१। २४१। ४) देखिये। (प० प० प्र०)] (ख) *'कुयोगिनां सुदुर्लभम्'* यथा—*'पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी॥'* (६। ३३) और *'मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।'* (६। ६१) कुयोगियोंको भगवान् अत्यन्त दुर्लभ हैं, यथा—**'योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं'** (भा० ३। १५। ४६) अर्थात् जो आप सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान रहते हुए भी दुष्टात्माओंकी दृष्टिसे ओझल रहते हैं। पुनश्च, यथा—**'यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः।'** (भा० ४। १३। ४८) अर्थात् (सब प्रजा, मन्त्री आदि शोकाकुल हो राजा अङ्गको खोजने लगे) जैसे कुयोगी लोग अपने हृदयोंमें किये हुए परमात्माको खोजते हैं (किंतु उसे पा नहीं सकते)। पुनश्च, यथा—**'अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।'** (भा० १। ६। २२) अर्थात् जिनकी वासनाएँ पूर्णतया शान्त नहीं हो जातीं उन कुयोगियोंको मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि **'भजामि भाववल्लभम्'** के सन्दर्भसे **'कुयोगिनाम्'** का अर्थ होगा—'जिनके हृदयमें भगवान्‌के साथ कोई भाव नहीं है; यद्यपि वे जप-तप आदि साधन करते हैं; कारण कि अकामिता-अमानिता आदि गुण साधनसे नहीं हो सकते, ये

श्रीरामकृपासे ही होते हैं। '**कल्पपादप**' अर्थात् उनकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करते हैं, जैसे कल्पवृक्ष, शत्रु, मित्र, उदासीन सबको अर्थ, धर्म, काम देता है। भक्तके लिये कल्पवृक्ष हैं और सबके लिये समान है—'***सब पर मोरि बराबरि दाया***', '***सब मम प्रिय सब मम उपजाये।***' इससे भक्तपर विशेष ममत्व दिखाया और भाव पूर्व कई बार आ चुके हैं।

प० प० प्र०—'**निरीहम्**' विशेषण भी निर्गुण-निराकार ब्रह्मका है; कारण कि नारायणोपनिषद्की श्रुति है कि '**पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति**'।—'**एकाकी न रमते सोऽकामयत बहु स्यां प्रजा सृजा इति।**', यह इच्छा भी निर्गुण ब्रह्ममें नहीं है कारण कि '**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।**'

इस छन्दमें '**जगद्गुरु**' का निर्देश करके गुरुकी आवश्यकता बतायी।—'***गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई। जो बिरंचि संकर सम होई॥***'

पु० रा० कु०—१ एकको दुर्लभ और दूसरेको कल्पवृक्ष कहनेसे विषमता पायी गयी, अतः कहा कि '**सम**' हैं। विशेष (२। २१९। ३—५) देखिये। '**सुसेव्य**', यथा—'***श्रुति सिद्धान्त इहै उरगारी। राम भजिय सब काम बिसारी*……॥' '*प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही। मोहि से सठ पर ममता जाही॥***' (७। १२३) '***समुझि मोरि करतूति कुल प्रभु महिमा जिय जोइ। जो न भजइ रघुबीर पद जग बिधि बंचित सोइ॥***' (अ० २९५) पुनः, यथा—विनय-पत्रिका—'***सुखद सुप्रभु तुम्ह सों जग माहीं। श्रवन नयन मन गोचर नाहीं॥***' (पद १७७), '***नाहिन और सरन लायक दूजो श्रीरघुपतिसम बिपति निवारन। काको सहज सुभाउ सेवकबस काहि प्रनत-पर प्रीति अकारन*……॥**' (२०६), '***भजिये लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिन***' (२०७), '***ऐसेउ साहिब की सेवा सों होत चोर रे*……' (७१), '*है नीको मेरो देवता कोसलपति राम*……*तुलसीदास तेहि सेइय संकर जेहि सेव***'—(१०७) इत्यादि देखिये। सुसेव्य हैं, अतः '**अन्वहं भजामि**' कहा। [बैजनाथजी '**मन्वहम्**' का अर्थ करते हैं—मन्व=क्रोध अर्थात् समग्र विकार। +हं=नाशक।' औरोंने सुसेव्यं+अन्वहं'= ऐसा पदच्छेद करके अर्थ किया है। अन्वहं=अनु+अहन्=प्रत्येक दिन=निरन्तर।]

पु० रा० कु०—२ **नमामि भाववल्लभं कुयोगिनां**……' इति। भाव यह कि कुयोगियोंके भाव नहीं है और भक्तोंमें भाव होता है। अपने भावसे कुयोगी आपको नहीं पाते और संत अपने भावसे आपको पाते हैं; आप दोनोंको 'सम' हैं। श्लोक ९ में निर्गुणस्वरूप कहा और १० में भगवत्-प्राप्तिकी सुगमता-अगमता दिखायी।

अनूप रूप भूपतिं नतोऽहमुर्विजा पतिं। प्रसीद मे नमामि ते पदाब्जभक्ति देहि मे॥ (११)
पठन्ति ये स्तवं इदं नरादरेण ते पदं । व्रजंति नात्र संशयं* त्वदीय भक्ति संयुताः† ॥ (१२)

अर्थ—पृथ्वीकी रक्षा करनेवाला (यह उदासी) एवं भूप (राजा) रूप जो उपमारहित है, पृथ्वीकी कन्या श्रीजानकीजीके पति श्रीरघुनाथजीको मैं प्रणाम करता हूँ। मुझपर प्रसन्न होइये, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। मुझे अपने चरणकमलोंकी भक्ति दीजिये॥ ११॥ जो मनुष्य इस स्तुतिको आदरपूर्वक पढ़ते हैं वे आपकी भक्तिसे संयुक्त होकर अर्थात् भक्तिसहित आपके पदको प्राप्त होते हैं, इसमें सन्देह नहीं॥ १२॥

नोट—१ 'भूपति' के दोनों अर्थ हो सकते हैं—एक तो राजाका रूप, यथा—'***भूप रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥***' ब्रह्माजीने स्तुति करके यों वर माँगा है—'***नृप नायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं॥***' (६। ११०) शिवजीने भी '***अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥***' (६। ११४) यह वर माँगा है। दूसरे, काननविहारी, धनुर्धारीरूप, यथा—'***तदपि अनुज श्रीसहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी॥***' सुतीक्ष्णजीने स्तुतिमें 'काननचारी' और 'कोसलपति' दोनों शब्दोंका प्रयोग किया है—'***जो कोसलपति राजिवनयना। करहु सो राम हृदय मम अयना॥***' पुनः, 'भूपति रूप' कहकर ऐश्वर्यरूपसे पृथक् माधुर्य द्विभुज नररूप दाशरथि रामकी वन्दना जनायी।

नोट—२ 'उर्विजापति' और 'भूपति' पद दिये क्योंकि पृथ्वीके दामाद हैं, अतः उसका भार उतारने जा रहे हैं।

* संशय। †संयुताः—१७०४, गी० प्रे०, भा० दा०। संयुतं-को० रा०।

नोट—३ खर्रा—भूपति अनूप रूप सबका कारण है। राजरूपसे भक्तिकी याचना की, फिर स्तुति पढ़नेवालोंके लिये भक्तिसहित भगवत्-धामकी प्राप्तिके लिये याचना की। इसीसे अन्तमें स्तवका माहात्म्य कहा।

पु० रा० कु०—१ (क) *'पठन्ति ये स्तवं……'* यह स्तोत्रका फल कहा। (ख) **'व्रजन्ति नात्र संशयं त्वदीय……'** इति।—भक्तियुक्त होनेपर फिर नीचे गिरनेका डर नहीं रह जाता, यथा—*'जे ज्ञानमानबिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥ बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥'* (७। १३) (ग) इस स्तुतिमें तीन भाग किये हैं।' **'भजामि', 'नमामि'** कहकर प्रथम भागमें मनु-प्रार्थित मूर्त्तिका पूर्वस्वरूप अवतार कहा। दूसरे भागमें विष्णुभगवान्‌का अवतार-स्वरूप कहा और तीसरे भागमें राजकुमाररूपसे प्रार्थना करके जनाते हैं कि दोनों आप ही हैं। (घ) राजा कहकर एवं जानकीपति कहकर तब वर माँगते हैं, जिसमें मिलनेमें संदेह न रहे। यथा—*'नृपनायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं॥ बारबार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भक्ति………॥'* (ङ) १२ श्लोकोंमें यह स्तुति की गयी। प्रथम श्लोकमें गुण-वर्णन किये, दूसरेमें शृङ्गार कहा, तीसरेमें वीर, चौथे-पाँचवेंमें रामायण कही, छठेमें द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत कहा, सातवेंमें चरणसेवाका फल, आठवेंमें भजनकी विधि, नवेंमें निर्गुण कहा, दसवेंमें भगवत्प्राप्तिकी सुगमता-अगमता दिखायी, ग्यारहवेंमें वर माँगा और बारहवेंमें स्तुतिका माहात्म्य कहा।

पु० रा० कु०—२ प्रथम श्लोकमें ही कहा था कि **'भजामि ते पदांबुजं'**, अतएव अन्तमें वर माँगा कि **'पदाब्ज भक्ति देहि मे।'** इस स्तुतिमें पदकमलका भजना कहकर फिर उनका माहात्म्य भी कहा **'त्वदंघ्रिमूल ये नरा……'** और अन्तमें उन्हींकी भक्ति माँगी।—*'चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजइ मति मोरि॥'*

प्र०—**'भक्तवत्सल'** से अवतारके पूर्वकी कथा जनायी। पृथ्वी गोरूपसे शरण गयी। उसकी पुकार सुनकर अवतार लिया। 'अद्भुत' से निर्गुण और 'श्याम' से सगुण भाव व्यंजित किये। **'प्रफुल्ल कंज लोचनं'** से अखण्डानन्द, 'प्रलम्ब' से नित्य वासुदेव मनुशतरूपाधेय द्विभुज परात्पर ध्वनित किया। **'त्रिलोकनायक धनुष धरं'** अर्थात् त्रिलोकनाथ होते हुए भी आप ही धनुषबाण धारण किये। **'मुनीन्द्रसंतरंजनं'** से **'मुनिगन मिलन बिसेष बन'** और शरभङ्गादि मुनियोंका मनोरञ्जन जनाया। **'अजादि देव सेवितं'** से जाम्बवान् आदि (ब्रह्मादिके अवतारों) से सेवित कहा। **'विशुद्धबोधविग्रहं'** से अवधधामयात्रा और **'समस्तदूषणापहं'** से उपासकोंको अप्रिय उत्तरकाण्डकी कथा संगृहीत है। इत्यादि।' [पु० रा० कु० एवं वै० के भाव इस विषयमें छन्द (३) (४) में लिखे जा चुके हैं।]

नोट—४ इस स्तुतिके सम्बन्धमें मतभेद है कि यह संस्कृतकी है या भाषाकी। संस्कृतके पण्डित इसको संस्कृत भाषाकी स्तुति माननेमें **'मुनीन्द्रसंतरंजनं' 'त्वदंघ्रिमूल ये नराः' 'गतिं स्वकं'** **पदाब्जभक्ति देहि मे' 'स्तवं इदं' 'नरादरेण', 'नात्र संशयं'** इनमेंसे किसी शब्दमें लिङ्ग, किसीमें विभक्ति, किसीमें सन्धि आदि दोष बताते हैं। अतः इसको भाषाकी ही स्तुति मानना उचित समझते हैं। हाँ, इस स्तुतिमें संस्कृतके क्रिया-पद और विभक्तियुक्त शब्दोंका विशेषरूपसे प्रयोग किया गया है; इसीसे इसे कोई-कोई संस्कृतकी स्तुति कहकर उपर्युक्त अशुद्धियोंको आर्षप्रयोग मानकर समाधान कर लेते हैं।

दोहा—बिनती करि मुनि नाइ सिर कह कर जोरि बहोरि।
चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजै मति मोरि॥ ४॥

अर्थ—मुनिने स्तुति करके तदनन्तर सिर नवाकर फिर हाथ जोड़कर कहा—'हे नाथ! मेरी बुद्धि कभी आपके चरणकमलोंको न छोड़े'॥ ४॥

पु० रा० कु०—१ (क) पूर्व कहा है कि *'जोरि पानि अस्तुति करत'*; अब यहाँ दुबारा हाथ जोड़ना कैसे कहा? उत्तर यह है कि स्तुति करके अन्तमें जब उसका फल कहने लगे तब कहा था कि **'पठंति ये स्तवं इदं'**। 'इदं' से जान पड़ता है कि उँगलीसे इशारा करके फल कहा। अङ्गुल्यानिर्देश करनेसे करसम्पुट

छूट गया था। अथवा, जब मस्तक नवाया तब दोनों हाथ अलग हो गये। पुनः, 'बहोरि' का सम्बन्ध दोनों ओर है। हाथ जोड़नेमें और वर माँगनेमें। एक बार चरणोंकी भक्ति माँगी—'**पदाब्जभक्ति देहि मे**' और अबकी बार माँगते हैं कि चरण-कमलको कदापि न छोड़ूँ (अर्थात् अचलता माँगी)।

(ख) खर्रा—जीवका स्वभाव मायावश ऐसा हो गया है कि '***कबहुँ देख जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै***' अर्थात् इन्हींके अनुसन्धानमें दिनरात लगा रहता है, इससे उसकी बुद्धि मलिन बनी रहती है, यथा—'***सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥***' (७। ७१। ६) अतः माँगा कि मति आपके चरणोंमें लगी रहे। पुनः, (ग) तन इन्द्रियाधीन, इन्द्रिय मनाधीन, मन बुद्धिके अधीन और बुद्धि आपके अधीन है, यथा—'***उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन॥***' अतः माँगा कि बुद्धिमें ऐसी प्रेरणा कीजिये कि चरण कदापि न छोड़े, क्योंकि चरणोंके छूटनेपर कहीं भी ठिकाना न मिलेगा, यथा—'***इहै कह्यो सुत बेद चहूँ। श्रीरघुबीर चरन चिंतन तजि नाहिन ठौर कहूँ॥***' (वि० ८६) (वि० त्रि० का मत है कि मुनिजी बुद्धिकी प्रेरणाका वरदान माँगकर गायत्री-जपके लक्ष्यकी ही सिद्धि चाह रहे हैं। गायत्रीकी उपासनामें बुद्धिकी प्रेरणा ही माँगी जाती है।) कृपासिद्धि चाही।

पु० रा० कु०—२ अत्रिजीकी स्तुति सुनी, उन्होंने वर माँगा पर प्रभुने उत्तर न दिया। कारण कि प्रभु अपनी ओरसे माधुर्य्य ग्रहण किये हुए मर्यादाका पालन कर रहे हैं। आगे बिदा माँगते समय आप कह रहे हैं '***आयसु होइ जाउँ बन आना।*********सेवक जानि तजेउ जनि नेहू।***' तब यहाँ स्पष्टरूपसे वर कैसे दें? पर मनमें ही वर देना समझ लेना चाहिये। जनकजी और भरद्वाजजीके प्रसंगोंमें भी ऐसा हुआ है और उत्तरकाण्डमें वसिष्ठजीके सम्बन्धमें भी चुप दिखाया है; पर जैसे वहाँ सन्तुष्ट होनेसे वर देना जनाया वैसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिये। इसीसे कविने न दोहराया। जनक-प्रसंग, यथा—'***बार बार मागौं कर जोरें। मन परिहरै चरन जनि भोरें॥ सुनि वर बचन प्रेम जनु पोषे॥ पूरनकाम रामु परितोषे॥***' (१। ३४२) भरद्वाज-प्रसंग, यथा—'***अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू।******।***' (२। १०७) '***सुनि मुनिबचन राम सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने॥***' वसिष्ठ-प्रसंग, यथा—'***नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु। जनम जनम प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥***' (७। ४९) '***अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आए। कृपासिंधुके मन अति भाए॥***'

नोट—१ किसी-किसीका यह भी मत है कि प्रथम बार कुछ न कहा तब फिर हाथ जोड़कर माँगा तब प्रभुकी चेष्टासे उनकी प्रसन्नता जानकर वर देना समझ लिया। वाल्मीकीयसे पता चलता है कि अत्रिका प्रभुमें पुत्रभाव और अनुसूयाजीका सीताजीमें सुता-भाव था। यथा—'**तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्यपद्यत।**' (५। २। ११७) '**प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालंकारशोभिनी।**' (२। ११९। ११) अर्थात् 'भगवान् अत्रिने उनके साथ पुत्रका-सा व्यवहार किया। (५) (अनुसूयाजीने कहा) बेटी! दिव्य अलंकारोंसे शोभित होकर मुझे प्रसन्न करो' (११) पुनश्च, यथा—'**सेयं मातेव तेऽनघ।**' (२। ११७। १२) अर्थात् (मुनि श्रीरामजीसे कहते हैं कि) अनुसूया तुम्हारी माताके समान पूज्य हैं। प्रभु भाव-ग्राहक हैं, अतः 'एवमस्तु' कैसे कहते?

प० प० प्र०—१ (क) '**पठंति ये********' का अन्वय इस प्रकार कर लें कि '**त्वदीयं (त्वत्कृतम्) इदं स्तवं ये नरा आदरेण पठन्ति ते (मम) भक्तिसंयुताः (भूत्वा) पदं व्रजन्ति। अत्र संशयः न।**', तो भगवान्‌का वरस्वरूप अर्थ भी निकल सकता है। '***उरप्रेरक रघुबंसबिभूषन***' होनेसे अत्रिजीकी वाणीहीसे मानो उन्होंने वर दिया। (ख) जो भक्त ऐश्वर्यभावनासे भजते हैं वे ऐसा ही वर माँगते हैं। जब भगवान् भी ऐश्वर्यभावमें रमते हैं तब 'तथास्तु' वा 'एवमस्तु' कह देते हैं। (ग) जब भक्त पूर्ण माधुर्योपासक रहता है तब वह कुछ माँगता नहीं। श्रीदशरथजी, श्रीविश्वामित्रजी, वाल्मीकिजी, जटायुजी और श्रीसुनयनाजी माधुर्योपासकोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। श्रीसुनयनाजीको अन्तमें रखनेका हमारा भाव यह है कि वे माधुर्यभावको भूलकर चरण पकड़कर रह गयीं—'***रही चरन गहि रानी।***' विशेष भाव वहीं देखो।

नोट—२ इस दोहेमें एक भी चौपाई नहीं है। ऊपर सोरठामें भगवान् बैठे हैं और फिर छन्दसे ही

स्तुतिका प्रारम्भ है। ऐसा करके कवि जना रहे हैं कि महर्षि अत्रिजीने मानो कमलका ही आसन दिया और स्तुति क्या कर रहे हैं, मानो प्रभुपर कमल-ही-कमल चढ़ाते जा रहे हैं। यह भाव इससे निकलता है कि मानस मुख-बन्दमें छन्द, सोरठा सुन्दर दोहाओंको कमल कहा गया है।

प० प० प्र०—अत्रि-स्तवकी विशेषता। (क) इसमें पाँच बार नमन किया गया है—**'नमामि भक्तवत्सलं' 'नमामि इंदिरापतिं', 'नतोऽहमुर्विजापतिं', 'नमामि ते·······', 'नाइ सिरु'**। पहले तीन बारके नमनमें पाँच-पाँच छन्दोंका अन्तर है तथापि तीसरे और चौथे नमनमें तो एक चरणका भी अन्तर नहीं है। कारण यह जान पड़ता है कि **'स्वभक्त-कल्पपादपं सुसेव्य'** का उच्चार होते ही भगवान्‌की भक्तवत्सलताके स्मरणसे हृदय कृतज्ञता-भावसे भर गया और वे **'प्रसीद मे नमामि ते'** कहकर मानो यह जना रहे हैं कि ***'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥'*** .

(ख) छन्द २ में **'भवांबुनाथ मंदरं'** शब्दोंसे सागर-मन्थनसम्बन्धी अनेक उल्लेख कर दिये हैं। अम्बुनाथ=क्षीरसागर। मन्दर=मन्दरपर्वत। मन्दरसे कूर्मकी ध्वनि। अम्बुनाथ और मन्दरके साहचर्यसे मन्थन। अमृतप्राप्त्यर्थ। मद=हालाहल। मोह=सुरा। मत्सर=बड़वानल। इन्दिरापति=विष्णु। इन्दिरा=लक्ष्मी। अजादिदेव=सुर। सुरारिवृन्द=असुर। मनोजवैरि=हालाहल-भक्षण। कुयोगी=राहु। कल्पपादप=पारिजातक। मनोज=चन्द्रमा **(चन्द्रमा मनसो जातः)**। भजन=वासुकी। गुरु=धन्वन्तरि (सद्‌गुरु वैद्य)। स्वधामद और वत्सल=कामधेनु (यह मुनियोंको मिली है)। मंडन=कौस्तुभ। बाहु=उच्चैःश्रवाः। (बाहुः=वाहः, यथा—**वाहोऽश्वभुजयोः पुमान्'** इति अमरव्याख्यासुधा)। शची=देवाङ्गना। अम्बुज=शंख। शचीपति प्रिय=ऐरावत।—इस प्रकार १४ रत्नोंका भी उल्लेख स्पष्ट है।

प० प० प्र०—अत्रि-स्तुति आश्लेषानक्षत्र है। दोनोंका मिलान—(१) अनुक्रम—यह स्तुति मानसमें नवीं है और नवाँ नक्षत्र आश्लेषा है। (२) नाम—आश्लेषा है। आश्लेष=आलिङ्गन, मिलना। अत्रिजीके नेत्र भगवान्‌के चरण, भुज और मुख (शरीर) को बारम्बार आलिंगन दे रहे हैं। पाँच बार **'नमामि'**, पाँच बार **'भजामि'** या **'भजन्ति'** और पाँच बार भगवान्‌के चरणोंका उल्लेख स्तुतिमें है। इससे स्पष्ट है कि मुनि अपने नेत्रोंद्वारा बारम्बार भगवान्‌का आलिङ्गन कर रहे हैं। अतः स्तुति आश्लेषा है। (३) तारा-संख्या। ज्योतिषशास्त्रके ग्रन्थोंमें कहीं पाँच संख्या कही है और कहीं छः। इस स्तुतिसे दोनों पक्षोंका समन्वय हो सकता है। तथा संख्या छः लेना समुचित जान पड़ता है, कारण कि इस नक्षत्रका आकार चक्र-सा है और चक्रमें समसंख्यक अरे होते हैं—**'अरा इव रथनाभौ।'** भगवान्‌के युगल चरण, युगल नेत्र और युगल बाहु भी मिलकर छः होते हैं। (४) आकारसाम्य—नक्षत्रका आकार चक्र-सा है*। भगवान्‌का चक्र सुदर्शन है। उसको षदुर कहते हैं और इससे

* स्तवका चक्राकार होना निम्न आकृतिसे समझमें आ जायगा।



उपर्युक्त आकृतिमें अङ्क छन्द और चरण-सूचक है। प्रदक्षिणक्रमसे चलनेपर फिर १।१ उपक्रम और ११।३ उपसंहार मिलकर सुदर्शन चक्र तैयार हो गया। 'नतोऽहं' और 'नाइ सिरु' तथा 'भजन्ति' शब्द नहीं लिये गये; कारण कि 'नमामि' में हाथ जोड़कर नमन है, अतः नाइ सिरु इस चक्रमें नहीं बैठता है। नतः का अर्थ नम्र भी हो सकता है। 'भजन्ति' का सम्बन्ध अत्रिजीसे नहीं है। इस चक्राकृतिसे स्पष्ट हो जायगा कि दो बार नमामि क्यों साथ आया है।

सुदर्शन-मन्त्रमें अक्षर भी छः है। चक्र मण्डलाकार होता है और स्तुति भी उपक्रममें '**नमामि**', '**भक्त**', '**पदाम्बुज**' है तथा उपसंहारमें भी '**नमामि**', '**पदाम्बुज**', '**भक्त**' (**भक्ति-संयुक्ताः**) है। इस तरह इसे भी चक्राकार जनाया। (५) देवता साम्य-नक्षत्रका देवता 'कद्रूजाः' (सर्प) है। जैसे कद्रूके पुत्र सर्पोंने सूर्यके घोड़ोंको वेष्टित किया, उसी रीतिसे मुनिके नेत्र, श्रीरामजीके नेत्र, बाहु-चरण आदि इन्द्रियरूप घोड़ोंको वेष्टित करते हैं। '**इन्द्रियाणि हयानाहुः**।' (कठ०) '**सूर्य आत्माजगतः**······।' श्रीरामजी ही आत्मा हैं। इस प्रकार देवता-साम्य सिद्ध हुआ। (३) नवें गुनग्रामका फलश्रुतिका साम्य—'***प्रिय पालक परलोक लोक के***', यह नवें गुणग्रामकी फलश्रुति है और स्तुतिमें इहलोक-पालकत्व '**स्वभक्त कल्पपादप**' से जनाया है। '**सुरारिबृंदभंजनं**' से ऐहिक संरक्षणत्व दिखाया है। '**अकामिनां स्वधामदं**' से परलोक-प्राप्ति; '**समस्त दूषणापहं**', '**मदादिदोषमोचनं**' में कामादिसे संरक्षण बताकर परलोक-पालकत्व दर्शित किया। इत्यादि।

श्रीअनुसूया-सीता और पातिव्रत्य-धर्म-वर्णन

अनुसुइया के पद गहि सीता। मिली बहोरि सुसील बिनीता॥ १॥
रिषिपतिनी मन सुख अधिकाई। आसिष देइ* निकट बैठाई॥ २॥

अर्थ—फिर सुशील और विनम्र श्रीसीताजी अनुसूयाजीके चरण पकड़कर अत्यन्त शील और नम्रतापूर्वक उनसे मिलीं॥ १॥ ऋषिपत्नी श्रीअनुसूयाजीके मनमें बहुत सुख हुआ। उन्होंने श्रीसीताजीको आशीर्वाद देकर अपने पास बिठा लिया॥ २॥

श्रीअनुसूयाजी—ये अत्रिजीकी परम सती धर्मपत्नी हैं। अत्रिजीने रामचन्द्रजीसे इनका परिचय यों दिया है—(वाल्मी० ११६ श्लो० ९—१३)—'दस वर्षोंतक लगातार वृष्टि न होनेसे संसार दग्ध होने लगा था तब इन्होंने अपने तपोबलसे फल-मूल उत्पन्न किये, गङ्गाको यहाँ लायीं और अपने व्रतोंके प्रभावसे ही इन्होंने ऋषियोंके विघ्न दूर किये। देवकार्यनिमित्त इन्होंने दस रात्रिकी एक रात्रि बना दी थी। इन्होंने दस हजार वर्षतक बड़ा उग्र तप किया था।' इनके सतीत्वके प्रतापकी बहुत-सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेशने इनके सतीत्वकी परीक्षा ली। उसका फल पाया। तीनोंको इनका पुत्र आकर बनना पड़ा। 'कतक' टीकाकारसे नागेशने रामाभिरामीटीका (वाल्मीकीयरामायण) में अनुसूयाजीके सम्बन्धमें यह कथा उद्धृत की है कि अनुसूयाजीकी कोई एक सखी थी; उसको किसी अपराधसे मार्कण्डेय ऋषिने शाप दे दिया था कि तू सूर्योदय होते ही विधवा हो जायगी। वह रोती हुई अनुसूयाजीके पास आयी। इन्होंने उस पर दया करके अपने तपोबलसे सूर्यका उदय होना ही बंद कर दिया। जिससे दस रात्रिकी एक रात्रि हो गयी। तब ब्रह्मादि देवताओंने आकर उस सखीके पतिके मरनेका शाप स्थगित कर दिया, वह विधवा न होने पायी। ऐसा होनेपर सूर्योदय हुआ। इनके तपस्या और प्रभावकी विस्तृत कथाएँ महाभारत, मार्कण्डेयपुराण और चित्रकूट-माहात्म्यमें दी हुई हैं। शिवपु० चतुर्थकोटि रुद्रसंहिता अ० ३, ४ में अनुसूयाजीके मन्दाकिनी गङ्गाको लानेकी कथा मिलती है। चित्रकूटमें कामदवनमें अनुसूयाजीसहित श्रीअत्रिजी अपने आश्रममें तपस्या करते थे। एक समय वहाँ सौ वर्षकी अनावृष्टिसे अकाल पड़ गया, सर्वत्र हाहाकार मच गया। सबको दुःखी देख न सकनेके कारण अत्रिजीने समाधि लगा ली। तब उनके शिष्यादि उनको छोड़कर चल दिये। परंतु अनुसूयाजी सब कष्ट सहकर उनकी सेवामें वहीं उपस्थित रहीं। वे नित्य मानसी पार्थिव पूजा करके शिवजीको संतुष्ट करती थीं। उनका तेज अग्निसे इतना बढ़ गया था कि देवता, दैत्य आदि भी उनके सामने न हो सकते थे। महर्षि और उनकी पत्नीका तप देखकर देवता, महर्षि तथा गङ्गा आदि उनकी बड़ी सराहना करने लगे कि ऐसा कठिन तप देखनेमें नहीं आया। वे सब इनके दर्शनको आये और चले गये, पर गङ्गाजी और शिवजी वहीं रह गये। गङ्गाजीने सोचा कि ऐसी महान् सतीका कुछ-न-कुछ उपकार मैं कर सकूँ तो अति उत्तम है।

* दीन्ह—को० रा०। देइ—१७२१, १७०४, १७६२, छ०, भा० दा०।

इस प्रकार अकालके चौवन वर्ष बीत गये। अनुसूयाजीका भी यही संकल्प था कि जबतक स्वामी समाधिस्थ हैं तबतक मैं भी अन्न-जल न ग्रहण करूँगी। ५४ वर्ष बीतनेपर महर्षिने समाधिविसर्जन किया और अनुसूयाजीसे जल माँगा। वे कमण्डल लेकर आश्रमसे बाहर निकलीं और चिन्ता करने लगीं कि कहाँ जल मिले जिससे मैं स्वामीको संतुष्ट कर सकूँ। उसी समय मूर्तिमान् गङ्गाने उनको दर्शन देकर पूछा कि देवि! तुम कौन हो, कहाँ जाती हो, क्या चाहती हो, सो कहो मैं उसे पूरा करूँ। आश्चर्यान्वित हो श्रीअनुसूयाजीने पूछा कि यहाँ वनमें तो कोई रहता नहीं, न आता है, आप कौन हैं यह कृपा करके बतलायें। उन्होंने अपना परिचय देकर कहा कि तुम्हारी तपस्या, स्वामी और शिवजीकी सेवा तथा धर्मपालन देखकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ, तुम जो माँगो मैं दूँ। तब श्रीअनुसूयाजीने हर्षपूर्वक प्रणाम करके कहा कि आप प्रसन्न हैं तो जल दीजिये। उन्होंने कहा, 'अच्छा एक गड्ढा बनाओ।' इन्होंने तुरत एक गड्ढा खोद दिया। गङ्गाजी उसमें उतरकर जलरूप हो गयीं। इन्होंने जल लिया और प्रार्थना की कि जबतक मेरे स्वामी यहाँ न आ जायँ तबतक आप यहाँ उपस्थित रहें। प्रार्थना करके जल ले जाकर इन्होंने स्वामीको दिया। उन्होंने आचमन आदि करके जल पिया और संतुष्ट होकर पूछा कि जल कहाँसे लायी हो? ऐसा स्वादिष्ट जल तो इसके पूर्व कभी नहीं मिला था। उन्होंने उत्तर दिया कि आपके पुण्यके प्रभाव और शिवजीके प्रतापसे गङ्गाजी यहाँ आयी हैं, उन्हींका यह जल है। आश्चर्यमें होकर वे बोले कि प्रत्यक्ष देखे बिना हमें विश्वास नहीं होता। अनुसूयाजी उनको साथ लेकर वहाँ आयीं। महर्षिजीने कुण्डको जलसे भरा देखा और गङ्गाजीका दर्शन भी पाया। फिर दोनोंने दण्डवत्-प्रणाम-स्तुति करके उसमें स्नानकर नित्य-कर्म किया। तब गङ्गाजीने कहा कि अब मैं जाती हूँ। श्रीअनुसूयाजी तथा महर्षि दोनोंने प्रार्थना की कि आप प्रसन्न होकर जब यहाँ आ गयी हैं तो अब इस वनको छोड़कर न जायँ। उन्होंने कहा कि यदि तुम लोकका कल्याण चाहती हो तो तुमने जो शिवजी और स्वामीकी सेवा की है उसमेंसे एक वर्षकी सेवाका फल हमें दे दो तो मैं यहाँ रह जाऊँ। **'शङ्करार्चनसम्भूतं फलं वर्षस्य यच्छसि। स्वामिनश्च तदास्थास्ये देवानामुपकारणात्॥** (४। ४५) **तस्माच्च यदि लोकस्य हिताय तत्प्रयच्छसि। तर्हाहं स्थिरतां यास्ये यदि कल्याणमिच्छसि॥'** ४७। (शिव पु० रुद्रसं०) उन्होंने अपने एक वर्षका तप दे दिया और उस दिनसे वे वहाँ रह गयीं और उनका नाम 'मन्दाकिनी' हुआ।

वि० त्रि०—**'न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति चान्यगुणानपि। न हसेत् परदोषांश्च सानुसूया प्रकीर्त्यते।'** अर्थात् जो गुणीके गुणोंमें दोष नहीं लगाता और दूसरेके गुणोंकी स्तुति करता है, दूसरेके दोषोंका उपहास नहीं करता, उसे अनुसूया कहते हैं।

प० प० प्र०—अनुसूया नाम सार्थ है। जिसमें असूया नहीं है वह अनुसूया है। त्रिगुणातीत जीव ही अत्रि है; तथापि जीवकी अर्धाङ्गी बुद्धि जबतक असूयारहित न हो जाय तबतक कोई भी 'अत्रि' नहीं हो सकता और अत्रि हुए बिना कोई भी परम विरागी नहीं हो सकता; यथा—***'कहिय तात सो परम बिरागी। त्रिन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी।'*** और परम विरागी हुए बिना श्रीरामजी हृदयरूपी आश्रममें पधारते ही नहीं।

टिप्पणी—१ (क) ***'पद गहि सीता मिली बहोरि'*** इति। (हमने ***'बहोरि'*** को आदिमें लेकर अर्थ किया है। इसमें ***'बहोरि'*** का भाव यह है कि जब श्रीअत्रिजी स्तुति कर चुके तब श्रीसीताजी श्रीअनुसूयाजीके समीप गयीं और उनके चरणोंको पकड़कर प्रणाम करके उनसे मिलीं। पं० रामकुमारजीने ***'बहोरि'*** को ***'मिली'*** का विशेषण मानकर ही अर्थ किया है। श्रीचक्रजी पं० रामकुमारजीसे सहमत हैं। वे लिखते हैं कि 'श्रीजानकीजीके लिये ***'मिली बहोरि'*** कहा गया है। इसका तात्पर्य स्पष्ट है। जब श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजी आश्रममें आये तब अनुसूयाजीने महर्षि अत्रिके साथ उनका स्वागत किया। वे कुछ कुटियाके भीतर बैठी नहीं रह गयीं। तीनोंने ही ऋषिपत्नीको प्रणाम किया। श्रीजानकीजीको अनुसूयाजीने हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया। इस प्रकार एक बार आश्रममें आते ही श्रीजानकीजी उनसे मिल चुकी हैं। अनुसूयाजी

जानकीजीसे अलग मिलना चाहती थीं और यह स्वाभाविक था। अतः श्रीजानकीजी अब कुटियाके भीतर जाकर उनसे मिलीं।' और वि० त्रि० कहते हैं कि अनुसूयाके राम अत्रिजी ही थे, अतः वे रामदर्शनके लिये नहीं आयीं।) चरण-स्पर्श करके भेंटना यत्रतत्र कहा गया है। यह रीति-सी जान पड़ती है। यथा—'*गुरुपतिनिहि मुनितियन्ह समेता। मिली प्रेमु कहि जाइ न जेता॥ बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिर बचन लहे प्रिय जीके॥*.........*लागि लागि पग सबनि सिय भेंटति अति अनुराग।*' (२। २४६) '*करि प्रनाम भेंटी सब सासू।*' (२। ३२०) स्त्रियोंकी चाल है कि दोनों हाथोंसे चरणोंकी वन्दना करती हैं, पालगी करती हैं, यथा—'*जाइ सासु पदकमल जुग बंदि बैठि सिरु नाइ।*' (२। ५७) पुनः, [भाव कि सीताजीने चरण पकड़े तब उन्होंने हृदयमें लगा लिया। जैसे '*करत दंडवत मुनि उर लाए*' वैसे ही यहाँ।—(प्र०) पहले '*पद गहे*' फिर कण्ठसे लगाकर मिलीं, इसीसे वक्ता लोग प्रशंसा करते हैं। (खर्रा)। (ख)'*रिषि पतिनी मन सुख*.........' इति। चरण स्पर्श किया अतः आशिष दी और'*मिली बहोरि*' अतः'*मन सुख अधिकाई*' कहा। पुनः, श्रीसीताजी आनन्दरूपा हैं, यथा—'**श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी**' (रा० उ० ता०) अतः सुख हुआ। (मा० सं०)। पुनः, जिनके जनक महाराज ऐसे पिता और चक्रवर्ती दशरथ महाराज ऐसे श्वशुर वे ही सीता केवल पतिप्रेमके कारण सर्व वैभवका त्यागकर मुनिव्रत-वेष-आहार स्वीकार कर प्रसन्नतापूर्वक पतिके साथ नंगे पैर भयानक वनमें फिर रही हैं, ऐसी पतिव्रताशिरोमणि अपने आश्रममें आयीं, यह समझकर विशेष सुख हुआ। (प० प० प्र०)] (ग) '*आसिष देइ*' इति। स्त्रियोंको सुहागका आशीर्वाद परम प्रिय होता है, वही आशीर्वाद दिया। यथा—'*सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहि सीस।*' (२। ११७), '*अचल होउ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जलधारा॥*' (२। ६९) अ० रा० में आशीर्वाद यह दिया है कि रघुनाथजी कुशलपूर्वक तुम्हारे साथ लौटें। यथा—'**कुशली राघवो यातु त्वया सह पुनर्गृहम्।**' (२। ९। ९०) (घ) 'निकट बैठाना' आदर है।—'**अनुसूया समालिंग्य वत्से सीतेति सादरम्।**' (अ० रा० २। ९। ८७) पुनः, यथा—'*उठे सकल जब रघुपति आए। बिस्वामित्र निकट बैठाए॥*', '*भरत बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरममय बचन उचारे॥*' (२। १७१) '*कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥*' (५। ३३) '*जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बामभाग आसन हर दीन्हा॥*' (१। १०७) '*तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे॥*' (१। २९१)'*अति आदर समीप बैठारी*' (६। ३७। ४) (ङ) यहाँ मन, वचन और कर्म तीनोंसे आदर दिखाया है—'*मन सुख अधिकाई*' यह मन, '*आसिस देइ*' यह वचन और 'बैठाई' यह कर्म है।

दिब्य बसन भूषन पहिराए। जे नित नूतन अमल सुहाए॥ ३॥
कह रिषिवधू सरस* मृदु बानी। नारि धर्म कछु ब्याज बखानी॥ ४॥

अर्थ—फिर उन्हें दिव्य वस्त्र और भूषण पहनाये जो नित्य नूतन, स्वच्छ और सुहावने बने रहते हैं॥ ३॥ तदनन्तर ऋषिपत्नी अनसूयाजीने रसीली कोमल वाणीसे स्त्रियोंके कुछ पातिव्रत्यधर्म उनके बहानेसे बखानकर कहे॥ ४॥

पु० रा० कु०—१ (क) दिव्य वस्त्राभूषण पहनाकर, अर्थात् अर्थ देकर, तब धर्मोपदेश किया, इसी धर्मसे मोक्षकी प्राप्ति आगे कहेंगी, यथा—'*बिनु श्रम नारि परम गति लहई*'। रहा काम—वह भी इसी धर्ममें बताया है, यथा—'*सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।*' अपने ही पतिसे रमण, यह काम है। इस प्रकार अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पदार्थ दिये। (ख) आभूषण पहनाने और कथा कहनेकी शोभा माधुर्यमें है। इसीसे अनसूयाजीने जानकीजीका ऐश्वर्य-कथन न किया, जैसा कि गङ्गा आदिने किया था, यथा—'*सुनु रघुबीर प्रिया बैदेही। तव प्रभाव जग बिदित न केही॥ लोकप होहिं बिलोकत तोरें। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें॥*' (२। १०३)(ग) 'दिव्य'का अर्थ कविने स्वयं खोल दिया है कि '*नित नूतन अमल*

* सरल—छ०, को० रा०, रा० प्र०। सरस—१७२१, १७६२, १७०४ (शं० ना०)।

सुहाए' है। दिव्य हैं अर्थात् देवताओंके योग्य हैं, सदा एकरस चमक-दमक बनी रहेगी। प्राकृत वस्त्राभूषणमें तीन दोष हैं—पुराने, मलिन और शोभाहीन हो जाना। इन तीन दोषोंसे रहित जनाया। (घ) वस्त्रसे षोडश शृङ्गार और भूषणसे बारहों आभूषण सूचित किये। १२ आभरण ये हैं—नूपुर, किंकिणी, चूड़ी, अँगूठी, कंकण, विजायठ, हार, कंठश्री, बेसर, विरिया, टीका और सीसफूल।

नोट—१ श्रीसीताजीने ऋषिपत्नीके दिये हुए आभरण, वस्त्रको प्रीतिदान समझकर ग्रहण किया। यथा—'**इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च। अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम्॥ १८॥ मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत्। अनुरूपमसक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति॥ १९॥ अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे। शोभयिष्यसि भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम्॥ २०॥ सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा। मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम्॥ २१॥**' (वाल्मी० २। ११८) अर्थात् 'सीते! मैं तुम्हें यह दिव्य और श्रेष्ठ माला, वस्त्र और आभरण, श्रेष्ठ अङ्गराग देती हूँ। इनसे तुम्हारे अङ्गोंकी शोभा होगी। उपयोग करनेपर भी ये खराब न होंगे। दिव्य अङ्गरागसे तुम अपने पतिको सुशोभित करोगी, जैसे लक्ष्मी विष्णुको शोभित करती हैं। श्रीजानकीजीने वस्त्र, अङ्गराग, भूषण और माला अनसूयाजीके श्रेष्ठ प्रीतिदानस्वरूप लीं।' अ० रा० में विश्वकर्माके बनाये हुए दो दिव्य कुण्डल, दो स्वच्छ रेशमी साड़ियाँ और अङ्गरागका देना लिखा है, यथा—'**दिव्ये ददौ कुण्डले द्वे निर्मिते विश्वकर्मणा। दुकूले द्वे ददौ तस्यै निर्मले भक्तिसंयुता॥**' (२। ९। ८८) '**अङ्गरागं च सीतायै ददौ दिव्यं शुभानना।**' उत्तम पतिव्रता ही जान सकती है कि पतिव्रताकी क्या रीति है। उसके अनुसार इन्होंने आगेकी जानकर दिव्य वस्त्र-भूषण दिये जो लंकामें काम दें।

नोट—२ मा० म०—(क) अनसूयाजीने, यह सोचकर कि ये वनवासमें हैं, १४ वर्षतक इनको दूसरा वस्त्र, भूषण न दिया जायगा और लक्ष्मणजी एक तो लड़के हैं, दूसरे चरणसे ऊपर दृष्टि नहीं करते, अतएव वे इनके वस्त्राभूषणकी आवश्यकता जान नहीं सकते। फिर अ० रा० के अनुसार जब श्रीरामजीने देखा कि जानकीजी अवश्य साथ जायँगी, तब उन्होंने कहा कि अच्छा, अपने हार आदि आभूषण गुरुपत्नी श्रीअरुन्धतीजीको दे दो और साथ चलो। श्रीसीताजीने तब अपने मुख्य आभूषण दे दिये। यथा—'**अरुन्धत्यै ददौ सीता मुख्यान्याभरणानि च।**' (२। ४। ८३) अतः श्रीअनसूयाजीने इनको दिव्य भूषण, वस्त्र दिये, जो सदा एकरस नित्य बने रहें। (श्रीचक्रजी लिखते हैं कि श्रीराम-लक्ष्मणजी तो पुरुष ठहरे, वल्कल पहनकर उनका काम चल जायगा। वल्कल मैला हो या फटा तो दूसरे वल्कल या वृक्षकी छालका अभाव नहीं, किंतु श्रीजानकीजी वल्कल पहनकर रहें, यह बात श्रीअनसूयाजीका हृदय भी सहन नहीं कर सकता। जो राजकुमारी अयोध्यासे चलते समय वल्कल पहनना तक नहीं जानती थीं वे केवल वल्कल धारण करके कैसे रहेंगी? और, वस्त्र तो फटेंगे और मैले भी होंगे और श्रीराम ठहरे नियमनिष्ठ, वे भला वस्त्र मँगानेकी व्यवस्था क्यों करने लगे? फिर अब वे यहाँसे भी जा रहे हैं। अतः इसका प्रबन्ध कर देना ही चाहिये कि उन्हें मैले वा फटे वस्त्र न पहनना पड़े। स्मरण रहे कि श्रीअत्रिजी तथा श्रीअनसूयाजी दोनों ही श्रीसीतारामजीको परब्रह्म जानते हैं और यह भी जानते हैं कि इनके शरीर तथा वस्त्र-भूषण आदि सब चिन्मय हैं तथापि उनका दोनोंपर वात्सल्यस्नेह है और प्रेमका स्वभाव ही शंकालु है। अतः अपने वात्सल्यस्नेहवश श्रीअनसूयाजी श्रीजानकीजीके लिये वस्त्र और आभूषण पहलेसे ही प्रस्तुत रखे हुए थीं।) तीर्थ-व्रतमें दूसरेका धान्य और फिर ब्रह्मधान्य ग्रहण करना योग्य नहीं, उसपर रामजी उदारचूड़ामणि और इस समयमें वानप्रस्थ-अवस्थामें हैं, भोजनसे अधिक तो लेना ही न चाहिये। तब कैसे लिया? समाधान यह है कि श्रीरामजीने भोजन ही लिया। पर जानकीजीने और भावसे भोजनसे भी अधिक लिया। वह यह कि अनसूयाजी पृथ्वीके अंशसे उत्पन्न हैं, अतः सीताजीने पुत्रिभावसे स्वीकार किया। [अ० दी० कार लिखते हैं कि 'महारानीजीने अनसूयाजीको सरकार (श्रीरामजी) की सास जानकर लिया अर्थात् अनसूयाजी पृथ्वीके अंशसे प्रकट हुई हैं, इस बातको अडोल बुद्धिवाले जानते हैं।' (अ० दी० च०) (पृथ्वीके अंशसे प्रकट होने और उसके कारण श्रीरामजीकी सास होनेका प्रमाण हमको नहीं मिला। भा० ३। २४ में

इनको कर्दमजीकी कन्या कहा है।)]

प्र०—राजकुमारी कहनेसे वात्सल्यभाव प्रबल जनाया और सुनयनादिकके साथ बहुत दिन अनसूयाजी रहीं, यह भी ज्ञात होता है। अतः पुत्रिभावसे दिया लिया गया।

नोट—३ एक व्यासजी काशीजीमें कहते थे कि सुनयनाजी और अनसूयाजी बहिनें हैं। आज कजली तीज है। इस दिन माता कन्याको वस्त्राभूषण देती है। इसी विचारसे रामजी सीताजीको यहाँ लेकर आये। पर यह सर्वथा कपोलकल्पित भाव है। अनसूयाजी कर्दम ऋषिकी कन्या हैं, यह भा० स्क० ३। २४ और ४ अ० १ से स्पष्ट है। कर्दमजीकी नौ कन्याओंके नाम हैं—कला, अनसूया, श्रद्धा, हविर्भू, गति, क्रिया, ख्याति, अरुन्धती और शान्ति। इनके पतिके नाम क्रमसे ये हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ और अथर्वा ऋषि जो ब्रह्माके पुत्र हैं। (भा० ३। २४। २२—२४) ऋषिकन्या यदि सुनयनाजी होतीं तो राजाको कदापि न ब्याही जातीं। दूसरे अनसूयाजी सृष्टिके आदिमें हुईं और राजा जनक त्रेतामें। श्रीहरिजनजी कहते हैं कि रुद्रसंहिता (शिवपुराण) पार्वतीखण्डमें लिखा है कि सुनयनाजी, कीर्ति (वृषभानुजा) और मेनाजी ये पूर्वजन्ममें पितृकन्याएँ थीं जो सनकादिके शापसे पृथ्वीपर जन्मीं। इस प्रकार भी अनसूयाजीका इनसे नाता नहीं पाया जाता। वात्सल्यभावसे प्रीतिदान दिया गया, वह सीताजीने लिया, प्रीतिदानमें योग्य-अयोग्यका विचार नहीं। वाल्मीकिजीका मत है कि वस्त्राभूषणसहित वसिष्ठजीने श्रीसीताजीको श्रीरामके साथ भेजा था। पुनः, कजली तीज भाद्रपदमें होती है जो वर्षाकाल है और वर्षाकालमें प्रभु चित्रकूटमें ही थे। वि० त्रि० का मत है कि 'अनसूयाजी चन्द्रकी माता हैं। चन्द्रसे ही क्षत्रियोंका एक प्रधान वंश चला है। सूर्यवंश और चन्द्रवंशमें कन्याका लेन-देन है। इसलिये अनसूयाजी कुलवृद्धा हैं। अतः उनका प्रीतिदान स्वीकार करना पड़ा। सम्भवतः इसी भयसे श्रीसीताजी फिर किसी ऋषिपत्नीसे नहीं मिलीं'।

नोट—४ '***सरसमृदु*********' इति। सरस=रसभरी, रसीली, सुधारसमयी। मृदु=कोमल अर्थात् कानोंको सुननेमें सुखद। यथा—'***नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥***' (७। ५२) तथा यहाँ अनसूयाजीके मुखसे अमृतसम वाणी निकली जिसे जानकीजी पान कर रही हैं। '***कछु ब्याज बखानी***' अर्थात् नारी-धर्मके बहाने कुछ स्तुति की। पुनः, इनके बहानेसे कुछ स्त्रीधर्म कहे। ऋषिने रामजीकी पूजा और सुहावने वचनोंसे स्तुति की। ऋषिपत्नीने सीताजीकी पूजा वस्त्र-भूषणसे की और सरस मृदु वाणीद्वारा स्तुति की।

श्रीचक्रजी—श्रीजानकीजीको इस उपदेशकी कोई आवश्यकता नहीं है, जैसा अन्तमें स्वयं अनसूयाजीने कह दिया है, तथापि उपदेश दिया गया। इसका मुख्य कारण है स्नेह। दूसरे यह सीधा उपदेश है भी नहीं। '***कछु ब्याज बखानी***' का अर्थ ही है कि जिसे उपदेश दिया जा रहा है, उपदेश उसके लिये नहीं है। उसे तो केवल निमित्त बनाया गया है।

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद* सब सुनु राजकुमारी॥५॥
अमित दानि भर्ता बैदेही †। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥६॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपदकाल परिखिअहिं चारी॥७॥

अर्थ—हे राजकुमारी! सुनो। माता, पिता, भाई और हितकारी सब थोड़ा ही (अर्थात् प्रमाणभर ही सुख) देनेवाले हैं॥ ५॥ परन्तु हे वैदेही! पति अतुल (सुख) दान देनेवाला है। अतः जो उसकी सेवा न करे वह स्त्री अधम है॥ ६॥ धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री—ये चारों विपत्तिके समय परखे जाते हैं॥ ७॥

श्रीचक्रजी—श्रीअयोध्याजीमें माता कौसल्याके समीप स्वयं श्रीजानकीजीने श्रीरामजीसे जो कुछ कहा है—'***मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥ सासु ससुर गुरु सजन सहाई। सुत सुंदर***

* मित सुख प्रद—को० रा०। मितप्रद सब—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। †बयदेही—भा० दा०।

सुसील सुखदाई॥ जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥' मानो थोड़े शब्दोंमें अनसूयाजी श्रीवैदेहीजीकी उन बातोंका ही समर्थन कर रही हैं।

टिप्पणी—१ *'मातु पिता······'* इति। (क) नैहर (मायका) का प्रेम, आपत्तिकाल और पतिकी कुरूपता ये तीनों पातिव्रत्यके बाधक हैं। अतएव प्रथम इन बाधकोंको कहकर तब धर्म कहेंगी। (ख) *'मितप्रद'।* यों तो माता-पिताका स्नेह सदा संतानपर रहता ही है, पर शास्त्रानुसार माताका दुलार ५ वर्ष और पिताका १० वर्षतक रहता है। विवाहके पश्चात् उतना प्रेम नहीं रहता। भाईका प्रेम माता-पितासे कम होता ही है। इत्यादि। ये सभी किसी-न-किसी निमित्तसे कोई पदार्थ देते हैं। फिर भी ये सब प्रकारके सुख नहीं दे सकते और न सर्वस्व देते हैं। अत: *'मितप्रद'* अर्थात् थोड़ा दान देनेवाला कहा। (ग) *'अमितदानि'* अर्थात् सर्वस्व देता है। जो सुख माता-पिता आदि देते हैं वह सब तो पति देता ही है पर साथ ही परलोकसुख भी देता है। पतिसे स्त्रीका लोक-परलोक दोनों बनता है। अत: अमितदानी कहा।—*'पति सेवत सुभगति लहै'* यह परलोकका बनना कहा और 'दानि' से लोकका बनना कहा। [चार पुरुषार्थोंमेंसे धर्म, काम और मोक्ष तो केवल पतिसे ही सिद्ध होते हैं, रहा अर्थ, यह अन्यत्र भी मिल सकता है पर एक सीमातक ही। माता-पिता, भाई आदिके धर्ममें उसका कोई भाग नहीं, किन्तु पतिकी तो वह सहधर्मिणी है। पतिके धर्ममें उसका और उसके धर्ममें पतिका भाग होता है। कामकी सार्थकता ही पतिके साथ है। पतिके अतिरिक्त कामका सेवन तो नरकका द्वार है। पति ही नारीको बिना सीमाका सुख देता है। वह पतिकी अर्धाङ्गिनी हो जाती है। वह दान या अनुग्रह नहीं पाती, वह वहाँ स्वत्व पाती है। (श्रीचक्रजी) तन, मन, धन, माँग (सुहाग) सुख और कोखसुखको देता है, जिससे उसका भी उद्धार होता है। अत: उसके दानकी मिति नहीं। (वै०) वाल्मी० २। ११७ में भी कहा है—**'नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम्। सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपःकृतमिवाव्ययम्।'** (२५) अर्थात् बहुत विचार करनेपर भी पतिके समान हितकारी बन्धु मैं दूसरोंको नहीं पाती। पति सर्वप्रकारसे (लोकपरलोक दोनोंमें) हितकारी है। यह तपस्याका अविनाशी फल है। इससे मिलता हुआ श्लोक शिवपु० रुद्रसं० २ पार्वती खण्ड अ० ५४ में यह है—**'मितं ददाति जनको मितं भ्राता मितं सुतः। अमितस्य हि दातारं भर्तारं पूजयेत्सदा॥'** (५०) अर्थात् (माता) पिता, भाई और पुत्र परिमित सुख देते हैं परंतु पति अमित सुख देता है, इस कारण उसे सदा पूजे। स्कन्द पु० ब्रा० ध० मा० ७ में भी यह श्लोक है। भेद इतना है कि **'जनको'** और **'पूजयेत्सदा'** के बदले क्रमशः *'हि पिता'* और का **'न पूजयेत्'** है।] 'राजकुमारी' सम्बोधनका भाव कि चाहे वह राजकुमारी ही क्यों न हो पर माता-पिता, भाई सब प्रमाणभर ही देते हैं, सब नहीं दे सकते। मितप्रदके साथ राजकुमारी और **'अमितदानि भर्ता'** के साथ 'वैदेही' पद दिया। 'वैदेही' पदका भाव कि पतिकी सेवामें तनमनसे लग जाय, देह-सुध भी न रहे, देहके सुख, सुविधा श्रम आदिका ध्यान न रहे।

प० प० प्र०—(१) 'राजकुमारी' में वही भाव है जो ऊपर *'सुख अधिकाई'* में बताया है। *'अमित दानि'* का भाव कि पति अपना तारुण्य, अपना तेज, अपना गोत्र, अपना स्वातन्त्र्य तथा अपनी सारी सम्पत्ति ही नहीं वरं अपने सत्कर्मोंका आधा पुण्य भी सती पत्नीको दे देता है। पुरुषका किया हुआ पाप पत्नीको नहीं भोगना पड़ता, पर पत्नीकृत पापोंका अर्धभाग तो पुरुषको लेना ही पड़ता है। (२) *'बैदेही'* का भाव कि तू देह-सुखकी किञ्चित् आशा न रखकर ही पति-सेवामें तत्पर है, यह मैं जानती हूँ।

नोट—१ *'धीरज धर्म मित्र अरु नारी······'* इति।—विपत्ति आनेपर धैर्य बना रहे, धर्मसे च्युत न हो, मित्रका प्रेम न घटे, किंतु अधिक बढ़ जाय, स्त्री-पतिका अधिक प्यार, सम्मान और सेवा करके उसे प्रसन्न रखे, तब वे सच्चे और खरे हैं, यथा—*'कुदिन हितू सो हित सुदिन हित अनहित किन होइ। ससि छबिहर रबि सदन तउ मित्र कहत सब कोइ॥'*— (दो० ३२२) अच्छे दिनोंमें इनके खरे होनेकी परख नहीं हो सकती, यथा—**'आपत्सु मित्रं जानीयाद् युद्धे शूरं धने शुचिम्। भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान्॥'** इति (प्रस्तावरत्नाकर)।—(पु० रा० कु०) इस श्लोकमें भी 'जानीयाद्' शब्द है जो परखने

या परीक्षाका अर्थ देता है न कि प्रतीक्षा वा राह देखनेका। पुनः, यथा—'**न च भार्यासमं किञ्चिद्विद्यते भिषजां मतम्। औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥**' (२९) (महाभारत वनपर्व अ० ६१ नलदमयन्तीसंवाद) अर्थात् वैद्योंके मतसे सर्व दुःखोंमें स्त्रीके समान दूसरी ओषधि नहीं है यह मैं तुमसे सत्य-सत्य कहती हूँ। अतः स्त्रीको चाहिये कि आपत्तिमें वह पतिका साथ न छोड़े।

नोट—२ परखना शब्द प्रायः मणि, रुपया, सोना आदिके लिये प्रयुक्त होता है। जैसे पारिखी अग्निमें तपाकर या बजाकर या अन्य ढंगसे उनकी पहचान करता है कि खरे हैं या खोटे। वैसे ही आपत्तिमें इनके खरे-खोटेपनकी परख होती है। यथा—'*कसे कनक मनि पारिखि पाए। पुरुष परिखिअहि समय सुभाए॥*' (२। २८३)'*बिपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥*' (४। ७) [खर्रा]—(क) यहाँ कहना तो स्त्रीधर्म ही है पर प्रसंग पाकर धीरज, धर्म और मित्र इन तीनोंको भी कहा। भाव यह कि यह न समझना कि रामजी राज्यभ्रष्ट हो गये हैं। (ख) यहाँ चारसे चारों वर्ण भी जनाये, धीरज क्षत्रियका, धर्म ब्राह्मणका, मित्र वैश्यका और स्त्री शूद्रकी। यहाँ क्षत्रिय वर्तमान है। भाव कि दुःख सहे, उपवास करे पर धर्ममें दृढ़ रहे—(रा० कु०)।]

प० प० प्र०—(१) धीरज आदिको क्रमशः क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रोंके लिये लगानेमें स्वारस्य नहीं है, क्योंकि चारों वर्णों तथा चारों आश्रमोंमें भी धीरज-धर्म और मित्रकी परीक्षा होगी ही। स्त्रीकी परीक्षा तो चारों वर्णोंमें होगी। (२) जबतक धैर्यके उपयोगका प्रसङ्ग नहीं आता तबतक धैर्यकी बातें करनेवाले बहुत होते हैं। यहाँ 'धीरज' का अर्थ 'सात्त्विक धृति' है—गीता १८। ३३ देखिये। धर्म अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह ये चारों वर्णोंके लिये सामान्य धर्म हैं। धनहीन, आश्रयहीन हो जानेपर जो इन व्रतोंको निबाहे वही सच्चा धर्मिष्ठ कहा जा सकेगा।

श्रीचक्रजी—प्रस्तुत प्रसङ्गमें नारीधर्म-परीक्षाके साथ धीरज, धर्म और मित्रकी बात यों ही नहीं कह दी गयी, गम्भीरतासे देखें तो पता लगेगा कि यहाँ प्रसङ्गसे बाहर कुछ नहीं कहा गया है। नारी केवल नारी ही नहीं है, वह पतिके लिये मित्र एवं सलाह देनेवाली भी है। आपत्तिके समय उसकी इतनी ही परीक्षा नहीं होती कि उसका पति-प्रेम कितना, है किंतु यह परीक्षा होती है कि उसमें धैर्य, धर्मनिष्ठा तथा मैत्रीका भाव कितना है। यदि वह धैर्य न रख सकी तो उसकी व्याकुलता पतिको और व्याकुल करेगी। पतिका आतिथ्यादि धर्म उसका भी धर्म है इत्यादि। द्रौपदीजीका उदाहरण ले सकते हैं। पाण्डवोंके वनवासके समय वे कितनी सेवारत और धैर्यशालिनी रहीं। उस विपत्तिमें भी धर्म, अतिथि-सत्कार आदिमें उनकी पूरी निष्ठा रही।

यद्यपि यह उपदेश इनके व्याजसे नारीमात्रके लिये है तथापि यह बात भी भूलने योग्य नहीं कि अनसूयाजी सर्वज्ञा हैं, आगे जो घटना होनेको है उसे जानती हैं। इसीसे वे यहाँ यह भी संकेत कर रही हैं कि पतिकी आपत्तिमें साथ देना ही पर्याप्त नहीं हुआ करता, धैर्य, धर्म एवं मैत्री-भावके परीक्षणका भी समय आ सकता है।

श्रीजनकनन्दिनीजूमें ये सब गुण एक साथ मिलते हैं। लंका-जैसे नगरमें राक्षसियोंसे घिरी होनेपर भी उन्होंने हनुमान्‌जीके साथ श्रीराघवके पास लौटना स्वीकार नहीं किया। '*अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई*' इस हनुमान्‌जीकी बातको उन्होंने तनिक भी समर्थन नहीं किया, यह उज्ज्वल, अचल धर्म, रावण-जैसे प्रतापीको भी खद्योत कहकर तुच्छ बता देने-जैसी धीरता और उनकी मैत्रीभावनाका तो कोई क्या वर्णन करेगा—वे शाप देकर रावणको भस्म कर सकती थीं।········जिन राक्षसियोंने उनको सताया उनके प्रति भी उनकी मित्रता जागरूक ही रही।

बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥ ८॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥ ९॥

अर्थ—बुड्ढा, रोगके वश, मूर्ख, निर्धन, अन्धा, बहिरा, अत्यन्त क्रोधी या अत्यन्त दीन-ऐसे भी पतिका अपमान करनेसे स्त्री यमपुर (नरक) में अनेक दुःख भोगती है॥ ८-९॥

पु० रा० कु०—(१) *'ऐसेहु'* का भाव कि इनपर दैवका तो अनादर (कोप) है ही, उसपर यदि स्त्रीने भी अनादर किया तब तो अत्यन्त ही असह्य है, अपमानकी सीमा ही है। (२) ऐसे लोग अपमानके पात्र होते ही हैं यथा-*'दीरघरोगी दारिदी कटुबच लोलुप लोग। तुलसी प्रान समान तउ, होहिं निरादर जोग॥'* (दो० ४७७) इसीसे 'अपमान' पद दिया। यहाँ ८ दोष गिनाये। एककी क्या, यदि इन आठोंसे भी युक्त हो तो भी उसका निरादर न करे, उसके वचनका उल्लंघन न करे।—(खर्रा)

नोट—१ *'आपत काल परिखिअहिं चारी'* कहकर तब*'बृद्ध रोग बस·······'* कहनेका भाव कि पतिका ऐसा होना भी आपत्ति है। वृद्ध है अर्थात् मृतकवत् है। अत्यन्त वृद्ध, सदा रोगी, जड़ अर्थात् मूढ़ वा बुद्धिहीन, सदा क्रोधमें भरा रहनेवाला आदिको मृतकसमान कहा ही गया है, यथा—*'कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥ सदा रोगबस संतत क्रोधी।····जीवत सव सम चौदह प्रानी॥'* (६। ३०×) वृद्ध और रोगी होनेसे उसको विवाहका सुख न मिला। प्रायः बुढ़ापेमें ही सदा एक-न-एक रोग ग्रसे रहता है अतः वृद्ध कहकर रोगवश कहा। रोगी होनेसे दवाई करते-करते घरकी सब संपत्ति उसीमें चली जाती है। रोग होनेपर क्रोध बहुत आता है और मनुष्य अत्यन्त दीन हो जाता है, उसे किसी बातमें सन्तोष नहीं होता, कोई बस किसीपर नहीं चलता, बुद्धि भी मारी जाती है। (यह जड़ता है।)· बुढ़ापेमें ही प्रायः लोग अंधे और बहिरे हो जाते हैं, इसीसे उन्हें बहुत खीझना पड़ता है, यह 'अति दीन' अवस्था है ही। अतः उसी क्रमसे कहा। वृद्ध रोगवश होनेसे कामसुख न मिला, जड़ और धनहीन होनेसे स्त्रीको अर्थ-सुख भी न मिला, भोजनवस्त्र, आभूषणका सुख गया। यह सब आपत्ति ही है। रात-दिन उसकी सेवामें ही लगी रहनेसे शरीरको सुख कहाँ? [अन्धा हुआ तो स्त्रीका रूप एवं शृङ्गार व्यर्थ हो जाता है और यदि बहिरा हुआ तो उसका कण्ठ, स्वर तथा बातचीत करनेकी उमङ्ग नष्ट हो जाती है। (श्रीचक्र)] वृद्ध रोगवश आदि उत्तरोत्तर एकसे दूसरा विशेष बुरा है, इसीसे अंतमें *'अति दीना'* अवगुण कहा गया।

स्त्रीके अर्थ और काम गये। पर इस आपत्तिमें यदि वह धर्मपर आरूढ़ रहे अर्थात् मन, क्रम, वचनसे पतिकी सेवा करे तो उसे जन्म लेनेका तो जो वास्तविक फल है सद्गति, वह उसे इतनेसे ही प्राप्त हो जाती है-*'पति सेवत सुभ गति लहइ।'* यह आगे कहा ही है। *'आपतकाल परिखिअहिं'* की पूरी व्याख्या चौ० ८ से १० तक और सोरठामें है। अर्थ और कामकी हानि होनेपर धर्मसे न डिगना परीक्षामें उत्तीर्ण होना है।

नोट—२ मिलान कीजिये—**'दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा। पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥'** (भा० १०। २९। २५)। भागवतके श्लोकमें 'वृद्ध, रोगवश, जड़, धनहीन' तो ज्यों-की-त्यों आ गये। 'अंध, बधिर, क्रोधी और दीन' की ठौर 'दुःशील और दुर्भग' शब्द हैं। अन्धे और बहिरेमें शील नहीं रह जाता। शील नेत्रोंमें रहता है, यह नेत्रहीन है। दोनों दशाओंमें स्त्रीको कलंक लगाता है। बहिरा बात करते देखता है तो समझता है कि न जाने क्या गुप्त बात कर रही है, इत्यादि। क्रोध और दीन-दशा दुर्भाग्यसे ही होते हैं। शिवपु० रुद्रसंहिता २ पार्वती खण्ड अ० ५४, यथा-**'आक्रुष्टापि न चाक्रोशेत्प्रसीदेत्ताडितापि च।'** (१९) अर्थात् पति बुरे वचन कहे तो भी आप बुरे वचन न कहे, ताड़न करनेपर भी प्रसन्न रहे। पुनश्च यथा-**'क्लीबं वा दुरवस्थं वा व्याधितं वृद्धमेव च। सुखितं दुःखितं वापि पतिमेकं न लंघयेत्।'** (श्लोक ३१) अर्थात् नपुंसक, व्याधिग्रस्त, दुरवस्थाको प्राप्त, वृद्ध, सुखी-दुःखी कैसा ही हो पतिका उल्लंघन न करे। मानसके 'वृद्ध, रोगवश, क्रोधी, अति दीन' शिवपु० के वृद्ध, व्याधित, आक्रुष्ट, दुःखित हैं, *'जड़ धनहीन अंध बधिर'* को दुरवस्थामें ले सकते हैं।

नोट—३ प० पु० उत्तरखण्डमें श्रीवसिष्ठजीने पतिव्रताके लक्षण दिलीप महाराजसे विस्तारसे बताये हैं। उसमें यह भी कहा है कि पति कुरूप हो या दुराचारी, अच्छे स्वभावका हो या बुरे स्वभावका, रोगी,

पिशाच, क्रोधी, बूढ़ा, कंजूस, चालाक, अंधा, बहरा, भयंकर स्वभावका, दरिद्र, घृणित, कायर, धूर्त अथवा परस्त्री-लम्पट ही क्यों न हो, सती-साध्वी स्त्रीके लिये वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा देवताकी भाँति पूजनीय है। स्त्रीको कभी पतिके साथ अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये। (संक्षिप्त पद्मपु०, गीताप्रेस)

नोट—४ ***'ऐसेहु पतिकर किए अपमाना'*** इति। शिवपु० के उपर्युक्त अध्यायके श्लोक ४४, ४५, ५३, ५५ के भाव ***'किए अपमाना'*** में कहे गये हैं। अर्थात् ऐसे पतिकी सेवा न कर तीर्थ-व्रतमें लगना, स्वामीको प्रत्युत्तर देना, उसे मारने दौड़ना, तू कहकर बोलना इत्यादि अपमान करना है।

श्रीचक्रजी—***'ऐसेहु पतिकर किए अपमाना'*** इति। हिन्दूधर्ममें स्त्रीके प्रति बड़ा निष्ठुर विधान किया है, यह बात सहसा आपके मनमें आवेगी। किन्तु बात ठीक उससे उलटी है। हिन्दूधर्म भोगप्रधान नहीं है। संसारिक सुखोंका भोगना मनुष्यका उद्देश्य है, यह हिन्दूधर्म मानता ही नहीं। अर्थ, धर्म और काम पुरुषार्थ होनेपर भी गौण हैं। मुख्य पुरुषार्थ है मोक्ष। भोजन, सन्तानोत्पादन आदि तो पशु-पक्षी आदि सब करते हैं। मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है, जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा पाना। हिन्दूधर्मका लक्ष्य है मोक्ष और उसी लक्ष्यको सम्मुख रखकर जो जैसा अधिकारी है उसके लिये वैसी ही व्यवस्था की गयी है। पुरुषके लिये ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास ये तीन आश्रम कठोर त्याग और तपके हैं। इन आश्रमोंमें पुरुषको कोई सांसारिक सुख भोगनेका विधान नहीं है। केवल गृहस्थाश्रम, पूरे जीवनका एक चतुर्थांश ही सांसारिक भोगोंके लिये रखा गया है। स्त्रीके लिये इनमेंसे ब्रह्मचर्य तथा संन्यासाश्रमका विधान नहीं है। वानप्रस्थमें पतिके साथ वनमें जाना या पुत्रके पास घर रह जाना, इसकी इच्छापर है। इसे देखते हुए जो विचार करेगा, उसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि पुरुष या नारीमें कोई पक्षपातपूर्ण भेद धर्मशास्त्रमें नहीं किया है।........

जबतक यह बात समझमें न आ जाय कि स्त्रीके लिये पति आराध्य है तबतक हिन्दूधर्मके आदेशका औचित्य एवं उसका रहस्य समझमें आना कठिन ही है। दाम्पत्य जीवनको जो कामोपभोगका अवसर मानते हैं, वे हिन्दूधर्मके तात्पर्यको जानते ही नहीं। ब्रह्मचर्यका कठोर तप, तितिक्षा इसलिये नहीं है कि उसके बाद विषयोंमें लीन हुआ जाय। पुरुषके लिये गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थकी तैयारी, शेष तीन आश्रमोंकी सेवाका अवसर तथा सन्तानपरम्परा रखनेके कर्तव्यका एक साधनमात्र है और नारीके लिये यह उपासनाका समय है। पति उसका उपास्य है, उपभोग्य नहीं। पति जब उपास्य है तब वह रूपवान् है या कुरूप, युवा या वृद्ध, इत्यादि प्रश्न व्यर्थ हो जाते हैं। आराधक शालग्रामजीकी बटियाके रूप गोलाई आदिका विचार नहीं करता; उसके लिये तो वह सच्चिदानन्दघन परमात्माका साक्षात्स्वरूप है। उस मूर्तिका अपमान भगवतापराधका एवं नरकका हेतु है।

पतिको स्त्री कैसी मिले और स्त्रीको पति कैसा मिले, यह न पुरुषके बसकी बात है और न स्त्रीके। प्रारब्ध कर्म जैसा होता है, सम्बन्ध भी वैसा ही प्राप्त होता है। वृद्ध, रोगी, निर्धन आदि पति अपने प्रारब्धके दोषसे ही स्त्रीको मिला है। इसमें किसी दूसरेका दोष नहीं। प्रारब्ध कर्मका फल तो भोगकर ही समाप्त होगा। यदि प्रारब्धसे छुटकारा पानेका कोई मार्ग होता तो कोई निर्धन, रोगी आदि होना ही नहीं चाहता। इसी प्रकार जो सुख प्रारब्धमें नहीं है, वह प्राप्त हो नहीं सकता। अतः स्त्रीको जो कष्ट मिला वह उसके पूर्वकृत कर्मोंका ही फल है। जिन सुखोंका नाश हुआ वह भी प्रारब्धके अनुसार ही हुआ। अब यदि वह पतिपर झुझलाये और पतिका अनादर करे तो यह उसका अपराध ही होगा। यदि वह पतिकी उपेक्षा करे तो कर्तव्यसे च्युत होगी।

प्रारब्धके कष्ट दूर नहीं किये जा सकते, किंतु उन्हें पुण्यप्रद बनाया जा सकता है। जो कष्ट भोगना ही है उसे रोकर, पछताकर भोगा जाय—इससे कष्टके साथ मनको अशान्ति और व्यथा प्राप्त होती है। उसे धैर्यसे भोग लिया जाय, इससे मनको व्यथा नहीं होती। उसे कर्तव्य तथा तप मान लिया जाय, इससे उसकी व्यथा तो समाप्त ही हो जाती है, वह सचमुच पुण्यप्रद तप हो जाता है। उस कष्टको भोगनेमात्रसे

तो पूर्वकृत अशुभ नष्ट हो जाते हैं और जीव शुद्ध होता है। उस कष्टमें तपका भाव कर लेनेसे शुद्धि होनेके साथ तपका पुण्य भी होता है। स्त्री जब वृद्ध, रोगी आदि दोषयुक्त पतिकी सेवा कर्तव्य समझकर आदरपूर्वक श्रद्धासे करती है तो वह महान् पुण्यकी भागिनी होती है। वह पति-सेवा ही उसके मोक्षका हेतु हो जाता है।

वि० त्रि०—उपर्युक्त दोषियोंमें पापीको नहीं गिनाया। पापी जबतक प्रायश्चित्त न कर ले तबतक त्याज्य है।

एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥ १०॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥ ११॥
उत्तम* के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥ १२॥
मध्यम परपति देखै कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥ १३॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो† निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥ १४॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥ १५॥
पतिबंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥ १६॥
छन सुख लागि जनम सतकोटी। दुख न समुझु तेहि सम को खोटी॥ १७॥

अर्थ—तन, वचन और मनसे पतिके चरणोंमें प्रेम करना स्त्रीके लिये यह एक ही धर्म, एक ही व्रत और एक ही नियम है॥ १०॥ संसारमें चार प्रकारकी पतिव्रताएँ हैं। वेद, पुराण, सन्त सभी ऐसा कहते हैं॥ ११॥ उत्तम पतिव्रताके मनमें ऐसा (भाव) बसा रहता है कि स्वप्नमें भी संसारमें दूसरा पुरुष है ही नहीं॥ १२॥ मध्यम पतिव्रता दूसरेके पतिको कैसे देखती है जैसे कि अपना (सगा) भाई, बाप या बेटा हो॥ १३॥ जो धर्मको विचारकर और कुल (की मर्यादा) समझकर रह जाती है (धर्मको बिगड़ने नहीं देती, अपनेको रोके रहती है) वह निकृष्ट स्त्री है। वेद ऐसा कहते हैं॥ १४॥ जो मौका न मिलनेसे अथवा भयके वश (पतिव्रता बनी) रह जाती है, संसारमें उसे अधम स्त्री जानना॥ १५॥ पतिसे छल करनेवाली जो पराये पुरुषसे प्रेम करती है वह तो सैकड़ों कल्पोंतक रौरव नरकमें पड़ी रहती है॥ १६॥ क्षणमात्रके सुखके लिये शतकोटि (अगणित) जन्मोंके दुःखको नहीं समझती, उसके समान दुष्टा कौन होगी?॥ १७॥

नोट—१ '*एकै धर्म एक ब्रत नेमा*……' इति। (क) भाव यह है कि जैसे शास्त्रों, पुराणों आदि धर्मग्रन्थोंमें पुरुषोंके लिये अनेक धर्म, व्रत और नियम कहे गये हैं वैसे ही स्त्रीके लिये पातिव्रत्य धर्म छोड़ और कोई धर्म नहीं कहे गये। उसके लोक-परलोक दोनोंके लिये यह एक ही साधन बताया गया है। यथा—'**स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः**', अर्थात् श्रेष्ठ स्वभाववाली स्त्रियोंके लिये पति ही देवता है (वाल्मी० २। ११७ श्लोक २४)। पुनः यथा—(महानिर्वाणतन्त्रे—'**भर्तैव योषितां तीर्थं तपो दानं व्रतं गुरुः। तस्मात्सर्वात्मना नारी पतिसेवां समाचरेत्॥**' अर्थात् पति ही तीर्थ, तप, दान, व्रत, गुरु है। अतएव स्त्री सर्वभावसे तनमनसे उसकी सेवा करे। पुनः, (ख) एक ही धर्म, व्रत, नियम है, यह कहकर अन्य धर्म, कर्म करनेको मना नहीं करते, क्योंकि स्त्रियोंको व्रत करना लिखा है, वरन् यह कहते हैं कि इस धर्मके सदृश दूसरा धर्म नहीं है। यह स्त्रीका मुख्य धर्म है। शिव पु० २। ३ में भी कहा है '**भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च। तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥**'(अ० ५४। ५१) अर्थात् पति ही देवता, गुरु, धर्म, तीर्थ, व्रत सब कुछ है, इसलिये सब कुछ छोड़कर एक पतिकी ही पूजा करे। (स्कन्दपु० ब्रा० ध० मा० ७ में यह ४८ वाँ श्लोक है) स्क० आ० रे० प्रभासेश्वरमाहात्म्य-प्रसंगमें प्रभाने भी कहा

* ५ (११) के बाद काशीकी प्रतिलिपिमें यह दोहा है—'उत्तम मध्यम नीच लघु सकल कहौं समुझाइ। आगे सुनहिं ते भव तरहिं सुनहु सीय चित लाइ॥ ५॥ यह दोहा साफ क्षेपक है। इसका कोई प्रयोजन यहाँ नहीं है। † ते—को० रा०। सो—१७०४ १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०।

है कि स्त्रीके लिये पतिके सिवा दूसरा देवता नहीं है, चाहे वह निर्धन, गुणहीन और द्वेषपात्र ही क्यों न हो (पतिके कल्याणके लिये पतिकी आज्ञासे वह व्रत आदि कर सकती है)।

श्रीचक्रजी—*'बृद्ध रोगबस……'* में जो बात कही गयी है उसीको कारण देकर *'एकै धर्म……'* से पुष्ट किया गया है। वहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि स्त्री ऐसे पतिकी सेवा क्यों करे? आवागमनसे छुटकारा तो अन्य साधनसे भी हो सकता है। स्त्री उस धर्मका ही सहारा क्यों न ले? इसी शङ्काका यहाँ अनसूयाजीने उत्तर दिया है।—*'एकै धर्म……'*।'

परलोक, पुनर्जन्म, परमात्माकी सत्ता तथा इनके स्वरूपका ज्ञान शास्त्रसे ही होता है। इसलिये इनको पाने तथा इनके विपरीत ले जानेवाले कर्म और उन कर्मोंके परिणाम भी शास्त्रसे ही जाने जाते हैं। जप, तप आदिका कोई फल होता है, यह बात शास्त्र ही बतलाता है। यदि कोई शास्त्रको न माने तो इन कर्मोंके फल बता पानेका भी उसके पास कोई उपाय नहीं है। कौन-सा कर्म पुण्य है, कौन पाप, यह भी शास्त्रसे ही जाना जाता है। इसी प्रकार शास्त्र यह भी बतलाता है कि कौन-सा कर्म किसे करना चाहिये और कौन-सा किसे नहीं करना चाहिये। शास्त्रकी एक बात मानी जाय, एक न मानी जाय, यह तो विचारहीनताका ही सूचक है।

नारीका मुख्य धर्म पतिप्रेम, पतिसेवा है। यदि किसी व्रतके पालनमें पतिकी सेवामें बाधा पड़ती हो तो वह व्रत उसके लिये त्याज्य है।

'काय बचन मन' इति। ये तीनों एक साथ हों तभी प्रेम या सेवा पूर्ण होती है। आलस्य और प्रमाद छोड़कर सेवामें तत्पर रहना शरीरसे सेवा है। उदासीनता तथा रुक्षताका व्यवहार त्यागकर स्नेहपूर्ण मधुर वचन बोलना वाणीसे सेवा या प्रेम है। असूया, घृणा, उपेक्षा, अहंकार, गर्व आदि त्यागकर नम्रता और स्नेहका भाव मनसे प्रेम है।

प० प० प्र०—पाषाणादि मूर्तियोंमें परमेश्वर-भावना रखकर जब भवसिन्धुसे उत्तीर्ण हो जाते हैं तब जिस पुरुषसे प्रारब्धानुसार विवाह हो गया, उसमें ईश्वर-भावना रखनेसे इह-परलोकका सुख क्यों न मिलेगा?

टिप्पणी—१ *'काय बचन मन'* दीपदेहरी है। अर्थात् तन, वचन और मन तीनोंसे उसका यही एक धर्म, व्रत और नियम है कि तन-मन-वचनसे पतिपदमें प्रेम हो। पुनः यथासंख्यसे भी लगा सकते हैं कि शरीरके लिये यही एक धर्म है, वचनसे इसी व्रतमें तत्पर और मनमें यही नियम दृढ़ रहे। [*'जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं' 'दुख न समुझ तेहि सम को खोटी'* तक जो पतिव्रताओंके लक्षण कहे गये हैं, ठीक वैसे ही शिवपुराणमें पाये जाते हैं। यथा—'**चतुर्विधास्ताः कथिता नार्यो देवि पतिव्रताः। उत्तमादिविभेदेन स्मरतां पापहारिकाः॥ ७२॥ उत्तमा मध्यमा चैव निकृष्टातिनिकृष्टिका। ब्रुवे तासां लक्षणानि सावधानतया शृणु॥ ७३॥ स्वप्नेऽपि यन्मनो नित्यं स्वपतिं पश्यति ध्रुवम्। नान्यं परपतिं भद्रे उत्तमा सा प्रकीर्तिता॥ ७४॥ या पितृभ्रातृसुतवत् परं पश्यति सद्धिया। मध्यमा सा हि कथिता शैलजे वै पतिव्रता॥ ७५॥ बुद्ध्वा स्वधर्मं मनसा व्यभिचारं करोति न। निकृष्टा कथिता सा हि सुचरित्रा च पार्वति॥ ७६॥ पत्युः कुलस्य च भयाद् व्यभिचारं करोति न। पतिव्रताऽधमा सा हि कथिता पूर्वसूरिभिः॥ ७७॥ या भर्तारं समुत्सृज्य रहश्चरति दुर्मतिः।**' (शिवपु० रुद्रसंहिता २, तृतीय खण्ड अ० ५२) अर्थात् उत्तम, मध्यम, अधम और अति निकृष्ट ये चार प्रकारकी पतिव्रताएँ होती हैं, उनके लक्षण सुनो। जो स्वप्नमें भी अपने पतिके सिवा दूसरेको नहीं देखती वह उत्तम है। जो दूसरे मनुष्यको शुद्ध बुद्धिसे पिता, भ्राता तथा पुत्रके समान देखती है वह मध्यम पतिव्रता है। जो मनसे अपने धर्मको विचारकर व्यभिचार नहीं करती और चरित्रवाली है वह निकृष्ट है। जो स्त्री पति और कुलके भयसे व्यभिचारसे वंचित रहती है वह अति निकृष्ट है, ऐसा मनु आदि पूर्वाचार्योंने कहा है। दुर्मति पतिका परित्याग कर एकान्तमें दूसरेके पास जाती है (वह उलूकी होती है)।] शिवपुराणमें जो पातिव्रत्य धर्म अनेक श्लोकोंमें कहा है उसे गोसाईंजीने इस एक चौपाईमें खींच लिया—*'एकै धर्म……प्रेमा।'* कायसे अष्टप्रहर सेवामें तत्पर रहे और मनभावते मधुर वचन कहकर मनको पतिमें सदा लीन रखे।

प० प० प्र०—उपर्युक्त श्लोकोंसे मिलान करनेपर मानसमें एक बड़ी विशेषता दीख रही है कि अर्थ तो वही है पर मानसमें व्यभिचार, पर-पुरुष-गमन इत्यादि शब्दोंकी गन्ध भी नहीं है। उन शब्दोंसे उन-उन पाप-कर्मोंका चित्र खड़ा करके पाठकोंके चित्तमें मालिन्य आ जानेकी शक्यता जानकर ही ऐसा किया गया है। कितनी मर्यादाकी रक्षा की है!!

श्रीचक्रजी—नारीके लिये पति परमात्माका प्रतीक है। पातिव्रत्य नारीकी आराधना है। इसलिये जैसे भगवान्‌की आराधना करनेवाले भक्त चार प्रकारके होते हैं। वैसे ही पतिव्रता भी चार प्रकारकी होती हैं। उत्तम पतिव्रता और ज्ञानी भक्तकी स्थिति एक-सी है। दोनोंमें वह और उसका आराध्य बस—ये दो रह जाते हैं। ऐसी उत्तम पतिव्रता तो एक भगवती उमा और दूसरी जगज्जननी श्रीजानकीजी ही मेरे ध्यानमें आती हैं। इस प्रसंगमें उपदेष्टासे श्रोता महत्तम है, यह बात स्वयं अनसूयाजीने स्वीकार की है। लौकिक नारीमें इस अवस्थाकी अभिव्यक्ति कठिन ही है।

नोट—२*'जग पतिब्रता'* इति। पतिव्रता किसे कहते हैं? उसके क्या लक्षण हैं? नरोत्तम ब्राह्मणके इस प्रश्नका उत्तर भगवान्‌ने यह दिया है—'**पुत्राच्छतगुणं स्नेहाद्राजानं च भयादथ। आराधयेत् पतिं शौरिं या पश्येत् सा पतिव्रता॥ कार्ये दासी रतौ वेश्या भोजने जननीसमा। विपत्सु मन्त्रिणी भर्तुः सा च भार्या पतिव्रता॥ भर्तुराज्ञां न लङ्घेद्यामनोवाक्कायकर्मभिः। भुक्ते पतौ सदा चात्ति सा च भार्या पतिव्रता॥ यस्यां यस्यां तु शय्यायां पतिस्स्वपिति यत्नतः॥ तत्र तत्र च सा भर्तुरर्चां चरति नित्यशः॥ नैव मत्सरतां याति न कार्पण्यं न मानिनी। मानेऽमाने समानत्वं या पश्येत् सा पतिव्रता॥ सुवेषं या नरं दृष्ट्वा भ्रातरं पितरं सुतम्। मन्यते च परं साध्वी सा च भार्या पतिव्रता॥**' (प० पु० सृष्टि० ४७। ५५—६०) अर्थात् जो स्त्री पुत्रकी अपेक्षा सौगुने स्नेहसे पतिकी आराधना करती है, राजाके समान उसका भय मानती है और पतिको भगवान्‌का स्वरूप समझती है वह पतिव्रता है॥ ५५॥ जो गृहकार्य करनेमें दासी, रमणकालमें वेश्या, भोजनके समय माता और विपत्तिमें मन्त्रीका काम करती है वह पतिव्रता मानी गयी है॥ ५६॥ जो मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा कभी पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करती तथा पतिके भोजन कर लेनेपर भोजन करती है वह पतिव्रता है॥ ५७॥ जिस-जिस शय्यापर पति शयन करते हैं वहाँ-वहाँ जो प्रतिदिन यत्नपूर्वक उनकी पूजा करती है, पतिके प्रति कभी जिसके मनमें डाह नहीं पैदा होती, कृपणता नहीं आती, पतिकी ओरसे आदर मिले या अनादर, दोनोंमें जिसकी बुद्धि समान रहती है वह पतिव्रता है॥ ५८-५९॥ जो साध्वी स्त्री सुन्दर वेषधारी परपुरुषको देखकर उसे भाई, पिता व पुत्र मानती है वह पतिव्रता है॥ ६०॥

नोट—३ **'बेद पुरान'**……', यथा—'**महान्पतिव्रताधर्मश्श्रुतिस्मृतिषु नोदितः। यथैव वर्ण्यते श्रेष्ठो न तथान्योऽस्ति निश्चितम्॥**' (शि० पु० २। ३ अ० ५४। १५) अर्थात् पतिव्रताओंका यह महान् धर्म श्रुतियों-स्मृतियोंमें लिखा है, वैसा अन्यत्र नहीं है, यह निश्चय है।

वि० त्रि०—पतिव्रताके चार प्रकार होनेमें सबका ऐकमत्य है अर्थात् यह शिष्टानुगृहीत सिद्धान्त है। स्त्री-पुरुषमें भोक्तृभोग्यदृष्टि स्वाभाविकी है। स्वाभाविकी प्रवृत्तिके रोकमें ही शास्त्रकी उपयोगिता है। वह निरोध स्त्रियोंमें चार प्रकारसे सम्भव है। स्वाभाविकी प्रवृत्तिका सर्वात्मना निरोध हठात् नहीं हो सकता। अतः स्त्रीका अपनी भोक्तृदृष्टिको पाणिगृहीताके ऊपर ही केन्द्रित करना पातिव्रत्य है। उसीका चार प्रकार यहाँ कहा गया है। पातिव्रत्यकी रक्षाके लिये स्त्रियोंपर रोक लगाये गये, जिसमें उनका परलोक और यह लोक बना रहे, स्वार्थान्धता इसमें कारण नहीं है।

टिप्पणी—२ *'उत्तमके अस बस मन माहीं'*……' इति। भाव कि यह धर्म स्वाभाविक ही उनके मनमें बसता है कि स्वप्नमें भी संसारमें अपना पति छोड़ दूसरा कोई पुरुष नहीं अर्थात् उसे सब जगत् स्त्रीमय ही दिखता है। [श्रीरूपकलाजी श्रीमीराबाईजीकी जीवनीमें लिखते हैं कि श्रीमीराबाईजीका यही भाव श्रीगिरिधरलालजीमें था कि एक वे ही पुरुष हैं और जगन्मात्र स्त्री है। इसी भावसे उन्होंने श्रीमहात्मा जीव गोसाईंजीका स्त्रीमुख देखनेका प्रण छुड़ाया था।] *'बस'* जनाता है कि मनसे कभी टलती नहीं। *'सपनेहु'*

का भाव कि कुबुद्धिके मनमें आनेको सन्धि नहीं, अतः एकरस रहती है। [यद्यपि स्वप्नमें अपना वश नहीं है, पर बिना वासनाके स्वप्न भी नहीं होता। अतः उन्हें स्वप्नमें भी परपुरुषमें पुंस्त्वकी भावना नहीं होती। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—३ '*मध्यम परपति देखहिं कैसें*……' इति। (क) जो उत्तममें मनका विषय था, मध्यममें नेत्रका विषय हुआ। ये और भी पुरुष मानती हैं, जैसे हमारे पति पुरुष हैं ऐसे ही औरोंके भी पति पुरुष हैं, पर उनमें यह अपने भाई, पिता या पुत्रका भाव मानती हैं, इनके समान देखती हैं, उन्हें भोग्यबुद्धिसे नहीं देखतीं। (ख) '*निज जैसें*' का भाव कि सगे भाई, बाप, बेटेमें कामकी प्रवृत्ति नहीं होती। (ग) इनको मध्यम कहनेका कारण यह है कि इनमें कामकी प्रवृत्तिका भय रहता है, यथा—'*भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥ होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी॥*' (७। ५। ६) (घ) '*जैसें*' का भाव कि अवस्थाक्रमसे यह अपने बराबरवालेको भाई, बड़ेको पिता और छोटेको पुत्रके समान समझती है। (ङ) [खर्रा—'*निज जैसें*' का भाव कि अपने मनको मिटाकर तब बचाती हैं कि ये तो हमारे लड़के हैं, हमारे भाई हैं, इत्यादि; नहीं तो केवल मानसे नहीं बच सकती, यथा—'*होइ बिकल*——।' पर यह कुबुद्धि आते ही उसे निकाल डालती है। (पर इस मतसे हम सहमत नहीं हैं। जहाँ सगे भाई, बाप, पुत्रका भाव है वहाँ मनमें दुर्भावना कहाँ? यह तो उसका सहज स्वाभाविक भाव होनेसे उसे इस प्रकार सोचकर संयम नहीं करना पड़ता। यदि इसमें कहीं अपवाद पाया जाय तो उसे कलियुगका घोरतम कुप्रभाव ही कहना होगा। यह किसी कुलटाकी ही बात हो सकती है, किन्तु यहाँ पतिव्रताका प्रसंग है, यह नहीं भूलना चाहिये। (श्रीचक्रजी) इसीसे मनुजीका आदेश है कि कोई पुरुष अपनी माता, भगिनी एवं पुत्रीके साथ भी एकान्तमें न रहे।

टिप्पणी—४ '*धर्म बिचारि समुझि कुल रहई*——' इति। (क) '*धर्म बिचारि*' से परलोकका डर और '*समुझि कुल*' से लोकका डर कहा, अर्थात् लोक-परलोकका डर मानकर धर्ममें रह जाती है। '*समुझि कुल*' अर्थात् हमारे पति और पिताका कुल उत्तम, यशस्वी, निष्कलंक, पवित्र इत्यादि विख्यात है, उसमें हम कालिकारूप पैदा हुईं, कुलकी नाक कटेगी, ऐसे कुलकी होकर हमारा अधर्ममें आचरण सर्वथा अयोग्य है, इत्यादि। यथा—'*इसबंस दसरथ जनकु रामलखनसे भाइ। जननी तू जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ॥*' (२। १६१) कोई जाने या न जाने पर मेरा पवित्र कुल मेरे पापसे कलुषित हो जायगा। ऐसे-ऐसे विचारोंसे जो मनमें आयी हुई बुराईको दबा देती है वह निकृष्ट है।

टिप्पणी—५ '*बिनु अवसर भय तें रह जोई*……' इति। (क) अर्थात् मौका मिल जाय कि कोई घरमें न रहे या किसीको अन्य कामोंसे सावकाश ही न हो जो इसकी खोज करे तो यह अवश्य परपुरुषगमन करे। अथवा, पति आदिका भय है कि जान पायें तो मार ही डालेंगे। [अधममें '*बिनु अवसर भय*' कहनेसे पाया गया कि निकृष्टको अवसर भी है, सब सुविधा है और भय भी नहीं है तथापि वह मनको संयमित रखती है, अधमका मन उसके वशमें रहता है। '*बिनु अवसर*'— अवसर न मिलनेपर कई बातें हो सकती हैं—वह इतनी कुरूपा, विकृतांगी आदि है कि कोई आकृष्ट ही नहीं होता, वह स्थान या साधन नहीं पाती इत्यादि। भय रोग और गर्भाधान आदिका भी हो सकता है, क्योंकि तब उसकी दुर्गति होगी। (चक्रजी)] (ख) इसे अधम कहा, क्योंकि यह अपना धर्म स्वयं नहीं बचा सकती, इसके लिये 'अवसर न मिलने पाने' और 'भय' इन दो रखवालोंकी जरूरत हुई, ये ही इसके धर्मके रक्षक बने। (ग) प्रथम तीन पतिव्रताएँ स्वयं अपने धर्मकी रक्षक हैं, मनमें उनके पातिव्रत्यका विचार है पर इसके मनमें पातिव्रत्य धर्म ही नहीं है। निकृष्टका मन दूषित है फिर भी वह अपना स्त्री-धर्म समझती है, इससे वह बच जाती है। (घ) '*अधम*' को भी पतिव्रतामें लिया, क्योंकि पाप मनमें ही रह गया। ऐसी स्त्रियाँ प्रायः कलियुगमें ही होती हैं—'*गुनमंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि परपुरुष अभागी॥*' (७। ९८) इससे (पापके मनमें रह जानेसे) इस पापका दण्ड न हुआ—'*मानस पुन्य होहिं नहिं पापा।*' (७। १०३) यह कलिका पुनीत

प्रताप है। अतः यह भी पतिव्रता मानी गयी। (उत्तम पतिव्रता आराध्या है। मध्यम लौकिक नारी होनेपर भी नित्य पवित्र है। यह भी देववन्द्या, प्रातःस्मरणीया एवं पूज्या है। इनके स्मरणसे पापोंका नाश हो जाता है। तृतीय कोटिवाली पतिव्रता कहलाने योग्य नहीं, इसीसे उसे 'निकृष्ट तिय' कहा और शि० पु० वाले श्लोक ७६ में भी उसे 'सचरित्रा' ही कहा गया। निकृष्टका मन विकारी है पर बुद्धि शुद्ध है और मनपर बुद्धिका नियन्त्रण भी है। अधमका मन और बुद्धि दोनों दूषित हैं, इसके मनमें पाप करनेकी बात आती है और वह पाप करना चाहती भी है, पर बच जाती है।

टिप्पणी—६ यहाँतक चार प्रकारकी पतिव्रताएँ कहीं। आगे व्यभिचारिणी स्त्रीको कहते हैं जो इनसे पृथक् है। पृथक् करनेका कारण यह है कि उसने तनसे पाप कर्म कर डाला। कर्मका उसे दण्ड मिला। यह ऊपरसे दिखानेके लिये पतिसे प्रीति करती है पर भजती है परपतिको, यही ठगना है। इसे रौरव नरक होता है।*

वि० त्रि०—'*छन सुख लागि*.........' इति। 'खोटे' की परिभाषा ही यही है जो थोड़ेसे लाभके लिये अपना धर्म छोड़े। विषयसुख क्षणभंगुर है। विषय और इन्द्रियके संयोगसे जो पहिले अमृत-सा जान पड़े और परिणाममें विषके समान हो उसे राजस सुख कहते हैं। पहिले तो रति-सुख ही राजस है, सो भी धर्म-विरुद्ध होनेसे घोर तामस हो गया। तामसका फल ही अधोगति है।

नोट—४ वाल्मीकि और अध्यात्ममें भी यह संवाद है, पर उनमें पतिव्रताओंका चातुर्विध्य वर्णन नहीं है। इसको यहाँ देकर पूज्य कविने उन रामायणोंमें वर्णित धर्मोंका सच्चा हृदय खोल दिया है। (मा० हं०)

नोट—५ मा० म०, करु० आदि कहते हैं कि जैसे चार प्रकारकी स्त्रियाँ यहाँ कही गयीं, इसी प्रकार इनसे चार प्रकारके भक्त दिखाये हैं। (क) उत्तम उपासक वे हैं जो जिस स्वरूपमें अनन्यभाव करते हैं उसीमें भुक्ति, मुक्ति और भक्ति सभी कुछ देखते हैं, अन्य स्वरूपमें स्वप्नमें भी नहीं। पर अपने इष्टकी प्रसन्नताहेतु सभी स्वरूप मानने योग्य हैं। यह उत्तम अर्थात् एकस्वरूपानन्य उपासक हैं। जो यह मानते हैं कि जो ईश्वरके स्वरूप हैं वे सब एक ही हैं, सभी भुक्ति-मुक्ति-भक्तिके दाता हैं; परंतु वे अपने इष्टस्वरूपमें ही परायण हैं। यह नहीं है कि अपने मनकी वृत्ति दूसरे स्वरूपोंमें चली जाय। जैसे स्त्री दूसरोंको भी पुरुष समझती है पर अपने चित्तमें उनके लिये विकार उत्पन्न नहीं होने देती—ये स्वरूपानन्य उपासक मध्यम कोटिके हैं। निकृष्ट वे हैं जिनकी इच्छा और देवताओंकी उपासनाकी होती है पर गुरु आदिका धर्म विचारकर करते नहीं। ये सामान्य उपासक हैं। चौथे न्यून वा अधम हैं। (करु०) (ख) उत्तम उपासक जैसे हनुमान्‌जी और सुतीक्ष्णजी कि जो केवल रामरूपको ईश्वर मानकर भक्ति करते हैं,

---

* १—भा० स्कं० ५ अध्याय २६ श्लोक ७ में नरकोंका वर्णन है। २८ नरकोंमेंसे रौरव नरक तीसरा है। इस नरकमें रुरु नामक कीड़े होते हैं जो महातामसी सर्पसे भी अधिक क्रूर होते हैं। यह कीड़े प्राणीको चारों तरफसे काटते हैं। प० पु० उत्तरखण्डमें वसिष्ठजीने दिलीपमहाराजके पूछनेपर साध्वी कन्याओंने यमलोकसे लौटनेपर अपनी माताओंसे जो यमलोकका वर्णन किया है उसे विस्तारसे कहा है। उन्होंने बताया है कि इस पृथ्वीके नीचे नरककी अट्ठाईस कोटियाँ हैं जो सातवें तलके अन्तमें भयंकर अंधकारके भीतर स्थित है। उपर्युक्त कोटियोंमेंसे प्रत्येकके पाँच-पाँच नायक हैं। उनमें पहला रौरव है जहाँ देहधारी जीव रोते हैं। इत्यादि। रौरवसे लेकर अवीचितक कुल एक सौ चालीस नरक माने गये हैं।

२—यहाँ प्रसंग पाकर पं० श्रीराजारामजी (पं० रामकुमारजीके शिष्य) की धर्मपत्नी पतिदासीजीकृत रामचरितके प्रसंगोंसे उपदेशके दोहे उद्धृत किये जाते हैं। यथा—'दासी वरके नामसे वरतरु पूजै नारि। साक्षात् वर नहिं भजहिं तिन्ह सम कौन गँवार॥ ७॥ नैहर सासुर सर्वसुख सा सीता तृण जान। दासी बन गवनी हरषि पतिपद प्रेम प्रमान॥ ११॥ दासी दुखकारण प्रगट यद्यपि कौसलनाथ। पै रानिन्ह सुतको तज्यो तज्यो न पतिको साथ॥ १२॥ दासी पतिते हठ किए कैकेइहिं दुखभार। विधवापन सुत बिमुखता अपयश जगत अपार॥ १५॥ दासी पति आदर बिना कहूँ न तिय को मान। नैहरहू निदरी गई दक्षसुता जग जान॥ १७॥ दासी सब निदरहिं सदा पतिबंचक अनुमानि। रामहु परसेउ पाँवते गौतमतिय जिय जानि॥ २२॥'

दूसरे रूपको क्षणभर दृष्टि उठाकर नहीं देख सकते। (वै०) [देखिये मीराजीको जो संसारके सभी जीवोंको स्त्री रूप ही समझती थीं, केवल एक अपने गिरिधरलालको पुरुष मानती थीं। जब पुरुषभाव ही किसीमें नहीं तो विकार कैसे उत्पन्न हो—*'मोह न नारि नारिके रूपा'।* मध्यम एकको इष्ट जानते हैं, औरोंको अङ्गदेव मानते हैं। इत्यादि। (ग) ये चारों स्वकीयाके समान हैं और जो दूसरेके इष्टकी उपासना करने लगते हैं ये परकीया हैं। वे भक्त नहीं रह जाते। (प्र०)]।

नोट—६ *'पतिबंचक'* इति। प० पु० सृष्टि० ४९। ३०-३६ में श्रीपार्वतीजी नारदजीसे कहती हैं कि 'जो पापी पुरुष मोहवश किसी साध्वी स्त्रीको दूषित करके छोड़ देता है, जो परस्त्रीके साथ बलात्कार करता है अथवा उसे धनका लालच देकर फँसाता है, जो परस्त्रीका अपहरण करता है, वे सब स्त्री-हत्यारे हैं और घोर नरकमें पड़ते हैं। उसी प्रकार पतिके साथ वंचना करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री चिरकालतक नरक भोगकर कौएकी योनिमें जन्म लेती है और उच्छिष्ट एवं दुर्गन्धयुक्त पदार्थ खा-खाकर जीवन बिताती है, तदनन्तर मनुष्ययोनिमें जन्म लेकर विधवा होती है।

बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाँड़ि छल गहई॥१८॥

पति प्रतिकूल जन्म* जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥१९॥

अर्थ—जो स्त्री छल छोड़कर पातिव्रत्यधर्मको ग्रहण करती है (दृढ़तापूर्वक पकड़ती है) वह स्त्री परिश्रम बिना परम गति पा जाती है॥ १८॥ परन्तु जो पतिके प्रतिकूल है वह जहाँ भी जाकर जन्म लेती है जवानी पाकर विधवा हो जाती है॥ १९॥†

नोट—१ *'बिनु श्रम'*—जप, तप, तीर्थ, योग, यज्ञ, वैराग्य, त्याग, कर्म, उपासना, ज्ञानादि सब परिश्रमरूप हैं। यथा—*'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥'* (७। ४६) *'छाँड़ि छल गहई'*—जैसा भक्तिके विषयमें कहा है—*'सरल सुभाव न मन कुटिलाई।'* (७। ४६) स्वार्थकी चाह छल है, छल छोड़कर पातिव्रत्य ग्रहण करनेका भाव कि अपने पतिकी सेवा सरल स्वभावसे स्वार्थ छोड़कर सहज प्रेमसे करे, यथा—*'सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥'* (२। ३०१। ३) *'पाइ तरुनाई'* अर्थात् उसकी युवावस्था ही नष्ट हो जाती है, उसका सुख उसको नहीं प्राप्त हो सकता।

नोट—२ यहाँ पातिव्रत्यका माहात्म्य और पतिप्रतिकूलताकी दुर्गति कही।

नोट—३ भाव कि उसका उद्धार किसी जन्ममें नहीं होनेका। (रा० कु०)

वि० त्रि०—*'पति अनुकूल.........'* इति। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ सतीत्व भंग नहीं हुआ, पर पतिसे विरोध हो गया। उस प्रतिकूलाचरणका दण्ड कहते हैं कि ऐसी स्त्रीका जन्म जहाँ होता है वहाँ भी पति-सुख उससे छीन लिया जाता है। तरुणावस्थामें विधवा होना परमेश्वरीय दण्ड है। उसके भोग लेनेमें ही कल्याण है, इसलिये शास्त्रोंमें विधवा-विवाहका विधान नहीं है।

सो०—सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥
सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रान प्रिय राम कहिउँ‡ कथा संसार हित॥५॥

---

* जन्मि—१७६२, १७०४। जन्म—को० रा०। जन्म—१७२१, भा० दा०, छ०।

† 'न व्रतैर्नोपवासैश्च धर्मेण विविधेन च। नारी स्वर्गमवाप्नोति केवलं पतिपूजनात्॥ स्वामिनः प्रतिकूल्येन येषु जन्मसु गच्छति। तारुण्यं प्राप्य सा नारी विधवा भवति वै ध्रुवम्॥' इति पराशरसंहिता॥

‡ कहेउँ—पाठान्तर।

अर्थ—स्त्री स्वाभाविक ही अपवित्र है, परन्तु पतिकी सेवासे वह शुभ गति पा जाती है। चारों वेद (पातिव्रत्यका) यश गाते हैं, आज भी भगवान्‌को 'तुलसी' प्रिय है। हे सीते! सुनो, तुम्हारा तो नाम स्मरण करके ही स्त्रियाँ पातिव्रतधर्मका पालन करेंगी। तुमको तो राम प्राणप्रिय हैं, यह कथा (स्त्रीधर्मोपदेश) मैंने संसारके भलेके लिये कही है॥ ५॥

श्रीचक्रजी—*'सहज अपावनि'* इति।*'मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन'* इस प्रकार श्रीरामचरितमानसमें नारीकी सहज अपवित्रताकी बात कई स्थानोंपर आयी है। इसमें न तो नारीके अपमान करनेकी भावना है, न कोई नारी-द्वेषकी बात है। नारी महीने-महीने रजस्वला होती है। इस अवस्थामें वह अस्पृश्य मानी जाती है। यह अपवित्रावस्था उसकी नैसर्गिक है और इससे वह बच नहीं सकती। कोई व्रत, अनुष्ठानादि वह अखण्डरूपसे इस अपवित्रावस्थाके प्रत्येक महीने प्राप्त होनेके कारण चला नहीं सकती। इस प्रकार उसकी अपवित्रता स्वाभाविक है।

वि० त्रि०—स्त्रीके शरीरकी बनावट ही ऐसी है कि वे शुद्ध नहीं रह सकतीं। वे महीनेमें तीन दिन क्रमसे चाण्डाली, ब्रह्मघातिनी और रजकीकी भाँति अशुद्ध रहती हैं, पुरुषके शुक्रको नौ मास गर्भके रूपमें धारण करती हैं। इसलिये सहज अपावनी कहा। पतिके पाणिग्रहणसे, उनके शरीरका पतिके शरीरसे अभेद हो जाता है, वे उसकी अर्धाङ्गिनी हो जाती हैं। अत: उपर्युक्त दोष पतिकी सेवा करनेवालीको नहीं लगता। उसकी शुभ गति होती है।

नोट—१ (क) *'सहज अपावनि'* को 'शुभगति' असम्भव है। दोनों परस्पर-विरोधी हैं पर उनको पतिसेवासे शुभगति 'सहज' हो जाती है। (ख) *'सुभ गति', 'जस गावत'* और *'हरिहि प्रिय'* पदोंसे जनाया कि पातिव्रत्य धर्मके पालनसे तीनों बातें प्राप्त हो जाती हैं—सद्गति, लोकपरलोकयश और भगवत्‌का प्रियत्व। (ग) *'पति सेवत सुभ गति लहइ',* यथा—'**स्त्रीणां पतिव्रतानां तु पतिरेव हि दैवतम्। स तु पूज्यो विष्णुभक्त्या मनोवाक्कायकर्मभि:॥ स्त्रीणामथाधिकतया विष्णोराराधनादिकम्। पतिप्रियरतानां च श्रुतिरेवा सनातनी॥**' (प० पु० पातालखण्ड सर्ग ८४। ५१-५२) अर्थात् पतिव्रता स्त्रियोंका तो पति ही देवता है। उन्हें पतिमें ही विष्णुके समान भक्ति रखनी चाहिये तथा मन, वाणी, शरीर और क्रियाओंद्वारा पतिकी ही पूजा करनी चाहिये। पतिका प्रिय करनेमें लगी हुई स्त्रियोंके लिये पति-सेवा ही विष्णुकी उत्तम आराधना है। यह सनातन श्रुतिका आदेश है॥५१-५२॥ पुन:, (घ)*'पति सेवत……'* से जनाया कि वह जीवन्मुक्त हो जाती है। (पं० रा० कु०)

खर्रा—*'तुलसिका हरिहि प्रिय'*—'तुलसिका' से जलन्धर दैत्यकी स्त्री वृन्दाकी कथा सूचित की। उसके परमसतीत्वके प्रभावसे भगवान् शंकर उसके पतिसे न जीत सके थे—*'परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी॥'* (१। १२३) में कथा दी गयी है, इससे दिखाया कि दैत्यकुलकी स्त्रीके पातिव्रत्यका यह प्रभाव हुआ कि भगवान् उसे तुलसीरूपसे मस्तकपर धारण करते हैं, वह ऐसी प्रिय है तो मनुष्य आदिकी स्त्रियोंके सतीत्वका प्रभाव क्या कहा जाय? (खर्रा)।

नोट—२ प० पु० भूमिखण्डमें तुलसीके प्रियत्वके सम्बन्धमें कथा इस प्रकार है—'देवताओं और दैत्योंने परस्पर उत्तम सौहार्द स्थापित कर जब समुद्र मथा तब उसमें चार कन्याएँ प्रकट हुईं। फिर कलशमें रखा हुआ अमृत दिखायी पड़ा। उपर्युक्त कन्याओंमेंसे एकका नाम लक्ष्मी, दूसरीका वारुणी, तीसरीका कामोदा और चौथीका ज्येष्ठा था। कामोदा अमृतकी लहरसे पैदा हुई थी। वह भविष्यमें भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये वृक्षरूप धारण करेगी और सदा विष्णुको आनन्द देनेवाली होगी। वृक्षरूपमें वह परम पवित्र तुलसीके नामसे विख्यात होगी। उसके साथ भगवान् जगन्नाथ सदा रमण करेंगे। जो तुलसीका एक पत्ता भी ले जाकर भगवान्‌को समर्पित करेगा उसका भगवान् बड़ा आदर मानेंगे और 'मैं इसे क्या दे डालूँ?' यह सोचते हुए वे उसके ऊपर प्रसन्न होंगे।'

इसी प्रसंगमें आगे चलकर नारदके सम्बोधित वाक्योंसे ज्ञात होता है कि कामोदा भगवान् विष्णुके तेजसे प्रकट हुई थी।

स्कन्दपु० वैष्णवखण्ड कार्तिक तुलसीमाहात्म्यमें लिखा है कि क्षीरसमुद्र मन्थनपर अमृतके निकलनेपर उस अमृतकलशको दोनों हाथोंमें लिये हुए भगवान् विष्णु बड़े हर्षको प्राप्त हुए। उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रुकी कुछ बूँदें उस अमृतके ऊपर गिरीं। उनसे तत्काल ही मण्डलाकार तुलसी उत्पन्न हुईं। इस प्रकार वहाँ प्रकट हुई लक्ष्मी और तुलसीको ब्रह्मा आदि देवताओंने श्रीहरिकी सेवामें समर्पित किया और भगवान्‌ने उन्हें ग्रहण कर लिया। तबसे तुलसीजी जगदीश्वर श्रीविष्णुकी अत्यन्त प्रिय करनेवाली हो गयीं। सम्पूर्ण देवता भगवत्प्रिया तुलसीकी श्रीविष्णुके समान ही पूजा करते हैं। भगवान् नारायण संसारके रक्षक हैं और तुलसी उनकी प्रिया हैं। यथा—'**ततः पीयूषकलशमजरामरदायकम्। कराभ्यां कलशं विष्णुर्धारयन्सुतलं परम्॥ अवेक्ष्य मनसा सद्यः परां निर्वृत्तिमाप ह॥ तस्मिन्पीयूषकलश आनन्दास्त्रोदबिन्दवः। व्यपतंस्तुलसी सद्यः समजायत मण्डला।"""ततोऽतीव प्रियकरा तुलसी जगतां पतेः॥**' (अ० ८। ३३-३४, ३७)।

परन्तु इन दोनों कथाओंमें पातिव्रत्यके सम्बन्धसे तुलसीका प्रियत्व नहीं सिद्ध होता। इनमें तो अमृतसे अथवा भगवान्‌के आनन्दाश्रुसे उत्पन्न और फिर श्रीहरिके ग्रहण करनेसे उसका माहात्म्य और प्रियत्व कहा गया है।

पद्मपु० उत्तरखण्ड सर्ग ९६ इत्यादिमें जो जलंधरकी पतिव्रता स्त्री वृन्दाकी कथा दी है (जो मा० पी० १। १२३ में उद्‌धृत की गयी है) उसमें वृन्दाका शाप देकर अग्निमें प्रवेश कर जानेके बाद इतनी कथा और है कि भगवान् उसके विरहमें व्याकुल हो उसकी भस्ममें लोटने और वहीं श्मशानपर रहने लगे। ऋषियों आदिके बहुत समझानेसे भी वे शान्त न हुए। तब देवताओंने शिवजीसे जाकर कहा कि भगवान् वृन्दासे मोहित होकर श्मशानमें पड़े हैं, क्या किया जाय? उन्होंने कहा कि महामायामूलप्रकृतिकी शरण जाना चाहिये। देवताओंने महामायाकी स्तुति की। उसने प्रकट होकर कहा कि तुम लक्ष्मी, सरस्वती और गौरी (जो हमारा ही रूप हैं) के पास जाओ, वहाँ तुम्हारा कार्य हो जायगा। देवता वहाँ गये। उन्होंने अपना-अपना बीज दिया और कहा कि इसे वहाँ जाकर बो दो। देवताओंने वैसा ही किया। उनसे धात्री (सरस्वतीके बीजसे), मालती (लक्ष्मीके बीजसे) और तुलसी (गौरीके बीजसे) हुईं। धात्री और तुलसीमें भगवान्‌को स्त्रीका रूप देख पड़ा, अतः वे उनको वृन्दाका रूप जानकर संतुष्ट हो उन्हें लेकर वैकुण्ठ चले गये। वृन्दाके भस्ममेंसे उत्पत्ति होनेसे वह परमप्रिय हुई।—यह कथा स्कन्दपु० वै० का० अ० १४-३० में और शिवपुराणमें भी लगभग ऐसी ही है। प्रायः तीनोंमें वही श्लोक हैं।

स्मरण रहे कि भगवान्‌के वृन्दासे यह कहनेपर भी कि तू निष्पाप है, अब तू हमारा भजन कर—'**भज मामधुनानघे** (प० पु० उ० १६। ५०)। उसने अपना सतीत्व नष्ट हो जानेसे अपने शरीरको दूषित मानकर भस्म कर दिया। इसीसे वह भगवान्‌को और अधिक प्रिय हो गयी।

स्कन्दपुराणमें आगे चलकर तुलसी-विवाह-कथाके प्रसंगमें ये श्लोक हैं—(वैष्णवखण्डकार्तिकमाहात्म्य अ० ३१) यथा—'**अनादिमध्यनिधन त्रैलोक्यप्रतिपालक। इमां गृहाण तुलसीं विवाहविधिनेश्वर॥ पार्वतीबीजसम्भूतां वृन्दाभस्मनि संस्थिताम्। अनादिमध्यनिधनां वल्लभां ते ददाम्यहम्॥ पयोघटैश्च सेवाभिः कन्यावद्वर्द्धिता मया। त्वत्प्रियां तुलसीं तुभ्यं ददामि त्वं गृहाण भोः॥**' (२२—२४) अर्थात् आदिमध्यान्तरहित त्रैलोक्यप्रतिपालक! आप इस तुलसीको विवाहकी विधिसे ग्रहण कीजिये। यह पार्वतीके बीजसे उत्पन्न हुई है। वृन्दाकी भस्ममें स्थित रही है तथा आदि, मध्य और अन्तसे रहित है। आपको तुलसी बहुत ही प्रिय है, अतः इसे मैं आपकी सेवामें अर्पित करता हूँ। मैंने जलके घड़ोंसे इसकी सेवा करके इसे कन्याकी तरह पाला-पोसा है। आपकी प्रिया तुलसी मैं आपको ही दे रहा हूँ। आप इसे ग्रहण करें।—इनसे भी सिद्ध होता है कि परम सती वृन्दाके भस्मसे उत्पन्न होनेके सम्बन्धसे, उसीका दूसरा रूप होनेसे वह भगवान्‌को परम प्रिय है। इसी कथाके सम्बन्धसे '*अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय*' कहा गया। विष्णुसहस्रनाममें 'तुलसीवल्लभ' भगवान्‌का एक नाम ही है। इससे बढ़कर प्रियत्वका प्रमाण क्या चाहिये?

श्रीचक्रजी वृन्दा-तुलसीकी कथा ही मानकर लिखते हैं—'स्त्रीके लिये पतिके नश्वर देहका महत्त्व

नहीं होता। पति उसके लिये परमात्माका प्रतीक है। जैसे कोई भक्त मूर्तिका पूजन करता है, लेकिन मूर्ति मुख्य नहीं है। मुख्य है ये प्रभु जिनकी मूर्ति है। अब यदि प्रभु मूर्तिमें प्रकट हो जायँ तो यह उपासनाका भंग या उपासनाका नाश नहीं है, यह तो उपासनाकी पूर्णता और प्रभुकी कृपा है। जैसे अनेक मूर्तियोंद्वारा एक ही परमात्माकी पूजा होती है, वैसे ही समस्त जीवरूपमें भी उन्हीं परम प्रभुका अंश है। पतिव्रता नारी पतिको जीव नहीं, परमात्मा मानती है। इसलिये पतियोंके शरीरके रंग या रूप चाहे जो हों, समस्त पतिव्रताओंद्वारा उनके पतिरूपसे वे जगदीश्वर ही पूजे जाते हैं। अब यदि वे दयामय किसीके पतिरूपमें प्राप्त हों तो यह उसकी उपासनाकी पूर्ति हुई, यह प्रभुका अनुग्रह हुआ। इसमें उसके व्रतके भंग होनेकी कोई बात नहीं। यह तो मूर्ति-अर्चावतार होने-जैसी दिव्य कृपा है। वृन्दा परमपतिव्रता थी। लेकिन पतिके नश्वर देहमें उसे मोह हो गया था। हड्डी, मांस, चामका ढाँचा ही आराध्य बन गया। परन्तु मोहयुक्त होनेपर भी उसका पातिव्रत्य पूर्ण था। कोई व्रत-जप आदि पूर्ण होता है तो वह परमात्माकी प्राप्ति कराता ही है। परमात्मा ही पूर्ण है, समस्त पूर्णताएँ वहीं पहुँचकर पूर्ण होती हैं। वृन्दाको भी उसके पतिरूपमें ही प्रभु मिले, जैसे आराधकको उसके ही आराध्यरूपमें भगवान्‌के दर्शन होते हैं।

काम या मोहमें बाधा पड़नेपर क्रोध होता है। वृन्दा भगवान्‌को पाकर अपवित्र होना तो दूर रहा परम पवित्र हो गयी। पातिव्रत्य परम पतिको पाकर पूर्ण एवं सफल हो गया है। पर उसके मोहमें बाधा पड़ी इससे उसे क्रोध हुआ और उसने भगवान्‌को जड़ होनेका शाप दे दिया। सर्वसमर्थ होते हुए भी भगवान्‌ने शापको स्वीकार कर लिया। शालिग्रामरूपमें भगवान् उस शापका सम्मान करके ही धरापर व्यक्त हुए। वृन्दा अपने मोहवश जालन्धरकी देहके साथ सती हुई, लेकिन उसे तो भगवान्‌ने अपना लिया था। सतीकी चिताकी भस्मसे तुलसीकी उत्पत्ति हुई। इस तुलसीरूपमें प्रभुने उसे अपनाया। अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे वृन्दा तुलसी होकर भगवान्‌को इतनी प्रिय लगी कि बिना उसके शालिग्रामकी पूजा ही नहीं होती। पतिव्रताका इतना महान् प्रभाव है।

शिवपुराण द्वितीय रुद्रसंहिता युद्धखण्ड अ० २७ से ४१ तकमें एक कथा तुलसीके सम्बन्धकी हमें और मिली जो इस प्रकार है—श्रीराधिकाजीके शापसे श्रीसुदामाजी शङ्खचूड़ नामक दानव हुए। उन्होंने पुष्करक्षेत्रमें तपस्या की जिससे ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर उनको जगन्मंगल मंगल और सर्वत्र विजय दिव्य श्रीकृष्ण-कवच दिया और कहा कि धर्मध्वजकी कन्या तुलसी बदरिकाश्रममें तप कर रही है। तुम उससे जाकर विवाह करो। यह बदरिकाश्रममें उसके पास गये और दोनोंमें बातचीत हो ही रही थी कि ब्रह्माजी वहाँ पहुँच गये और दोनोंको आज्ञा दी कि विवाह कर लो। विवाह हो जानेके बाद वह दैत्यदानवादिका राजा हुआ और तब इन्द्रादि समस्त देवताओंको जीतकर वह सबका स्वामी बन बैठा। देवता पीड़ित हो ब्रह्माके पास गये, ब्रह्मा सबको लेकर वैकुण्ठ गये और सब वृत्तान्त उनसे कहे। विष्णुभगवान्‌ने कहा कि वह शिवजीके हाथसे ही मरेगा, अतएव सब वहीं चलो। सब वहाँ गये। शिवजीने उसका वध स्वीकार किया। तब सब अपने-अपने लोकोंको गये। (अ० ३१) शिवजीने शङ्खचूड़के पास पुष्पदन्त नामक दूतको भेजा कि देवताओंका राज्य-अधिकार-सम्पत्ति लौटा दो, नहीं तो हमसे युद्ध करना होगा। उसने युद्ध स्वीकार किया। दोनोंमें घोर युद्ध हुआ, जिसका वर्णन अ० ३३ से ३९ तकमें है। अन्ततोगत्वा शिवजीने त्रिशूल चलाना चाहा तब आकाशवाणी हुई कि ठहरिये, इसको ब्रह्माका वर है कि जबतक हरिका परमकवच इसके हाथमें है और जबतक इसकी स्त्रीका सतीत्व है तबतक वह नहीं मरेगा। शिवजी यह वाणी सुनकर रुक गये।

इधर भगवान् विष्णु ब्राह्मणका रूप धरकर शङ्खचूड़के पास गये और उससे भिक्षा माँगी। उसने कहा कि माँगो। ब्राह्मणने कहा कि देनेकी प्रतिज्ञा करो तब मैं माँगूँ। उसने प्रतिज्ञा की। तब ब्राह्मणने हरिकवच माँगा। उस सत्यवादी दानव शङ्खचूड़ने हर्षपूर्वक उसे दे दिया। कवच लेकर भगवान् शङ्खचूड़का रूप धारणकर उसकी परम सती तुलसीके पास नगाड़े बजाते हुए पहुँचे। उसने जाना कि स्वामी युद्ध

जीतकर आये हैं, आकर आरती उतारी और उन्हें अपने रंगमहलमें ले गयी। तुलसीके पूछनेपर कि युद्ध कैसे-कैसे हुआ, शङ्खचूड़-रूपधारी ब्राह्मणने युद्धका वृत्तान्त कुछ कहकर बताया कि ब्रह्माजीकी आज्ञासे हमने देवताओंको राज्य दे दिया और दोनोंमें सुलह हो गयी। दोनों स्त्री-पुरुषोंका सम्बन्ध होते ही तुलसीको अनुमान हुआ कि ये मेरे स्वामी नहीं हैं, और उधर शिवजीने शङ्खचूड़को मार डाला। उसने क्रोधसे कहा कि 'तुम कौन हो, बताओ? नहीं तो मैं शाप देती हूँ। तुम मेरे स्वामी नहीं हो। शापके भयसे भगवान्ने अपना सुन्दररूप धर लिया। उसने भगवान्को पहचानकर कहा कि तुमने मेरा सतीत्व भङ्ग किया। तुम्हारा हृदय पाषाणका है, उसमें दया नहीं है। अतः तुम मेरे शापसे पाषाण हो जाओ।' इतना कहकर वह विलाप करने लगी। भगवान्ने शिवजीका स्मरण किया और वे तुरन्त वहीं पहुँच गये। उन्होंने तुलसीको बहुत ज्ञानोपदेश देकर कहा कि अब तुम दोनोंको सुख देनेवाली बात मैं कहता हूँ, उसे सुनो। तुमने पूर्वमें जिस बातके लिये तप किया था उसीके अनुसार यह सब कार्य हुआ है, वह अन्यथा कैसे हो सकता है? (उसने तप किया था कि भगवान् हमारे पति हों)। अब तुम इस शरीरको छोड़ दिव्य देह धारणकर रमाके समान भगवान्के साथ रमण करो। तुम्हारी यह देह छूटनेपर तुम गण्डकी नदी होगी और कुछ कालके बाद तुम देवपूजाके साधनरूप 'तुलसी वृक्ष' होगी। भगवान् तुम्हारे शापवश गण्डकी-तटके पर्वत होंगे। करोड़ों तीक्ष्ण दन्तवाले कीड़े उसकी शिलाके टुकड़ोंमें चक्राकार छिद्र करेंगे, वही अत्यन्त पुण्यकारक शालग्राम होंगे जो चक्रोंके भेदसे लक्ष्मीनारायण, सीताराम आदि प्रसिद्ध होंगे। इस प्रकार तुम्हारा और भगवान्का सदा सङ्गम रहेगा। तुम्हारे पति शङ्खचूड़की अस्थिसे शङ्ख होगा। तुलसी, शालग्राम और शङ्ख जो एकत्र रखता है वह महाज्ञानी और भगवान्को अतिप्रिय होता है। यथा—'**शालग्रामं च तुलसीं शङ्खं चैकत्र एव हि। यो रक्षति महाज्ञानी स भवेच्छ्रीहरिप्रियः॥**' (रु० सं० यु० ४१। ५५)

☞यह कथा *'अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय'* में मेरी समझमें बहुत सङ्गत है। *'अजहुँ'* से सूचित होता है कि 'तुलसी' अपने पातिव्रत्यके कारण पूर्व भी प्रिय थी और आज भी प्रिय है। 'तुलसी' ने पूर्व तप किया था कि भगवान् उसके पति हों, इसी सम्बन्धसे वे शङ्खचूड़के शापका उद्धार करनेके लिये, उसका शापित शरीर छुड़ानेके लिये, उसके रूपसे 'तुलसी' के पास गये थे। 'तुलसी' का वह शरीर ही गण्डक हुआ और भगवान् शालग्रामरूपसे सदा उसमें निवास करते हैं। फिर, वह 'तुलसी' दिव्यरूपसे भी सदा भगवान्के साथ लक्ष्मीकी तरह रहती है और साथ ही 'तुलसीवृक्षरूप' से भी सदा प्रभुकी सेवा करती है। मानसमें अनुसूयाजीका पातिव्रत्यधर्मोपदेश उस उपदेशसे नितान्त मिलता है, जो शिवपुराणमें एक ब्राह्मणीने श्रीपार्वतीजीको किया है, इससे अनुमान होता है कि *'अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय'* भी शिवपुराणान्तर्गत इस कथाको लक्ष्य करते हुए ही कहा गया है।

☞तुलसीके प्रियत्वके सम्बन्धमें *'रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी।'* (१। ३१। १२) में भी कुछ लिखा जा चुका है। वहाँ भी देखिये!

टिप्पणी—१ (क) तुलसीके दृष्टान्तसे जनाया कि सहज अपावनी स्त्री परम पावनी हो जाती है। यथा—*'रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी।'* (ख) जो बात कही उसके दोनों प्रमाण (शब्दप्रमाण, प्रत्यक्षप्रमाण) दिये। *'श्रुति अस कहई', 'गावहिं श्रुति चारि',* यह शब्दप्रमाण है और *'अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय'* यह प्रत्यक्षप्रमाण है, सब जानते हैं। (ग) चार प्रकारकी पतिव्रताएँ बतायीं, उसमें भी वेदादिका प्रमाण दिया—*'बेद पुरान संत सब कहहीं।'* उत्तम, मध्यम और निकृष्टको (जो अपने धर्मकी रक्षा स्वयं करती हैं) कहकर फिर उसका भी प्रमाण दिया कि *'श्रुति अस कहई।'* फिर अधम पतिव्रता (जो मनसे पतिव्रता नहीं है किन्तु परपुरुषका चिन्तवन करती रहती है) और व्यभिचारिणीके लक्षण और पातिव्रत्यका माहात्म्य एवं व्यभिचारकी दुर्गति कहकर फिर प्रमाण दिया कि 'चारों वेद' ऐसा कहते हैं। इनका प्रमाण देकर जनाया कि पतिव्रता स्त्रियोंको वेद-पुराण-सन्तवचन आदिके सुननेका अधिकार है, यथा—*'जदपि जोषिता*

नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥'— (१। ११०) और पतिव्रताका धर्म है *'काय बचन मन पतिपद प्रेमा।'* *

टिप्पणी—२ *'सुनु सीता तव नाम सुमिरि'*······' इति (क) आदिमें जब धर्मोपदेश किया तब *'सुनु राजकुमारी'* कहा था और अब उनका ऐश्वर्य कहती हैं। अतः *'सुनु सीता'* कहा। (ख) यह जो कहा कि *'तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं'* वह भी *'संसारहित'* कहा और जो स्त्री-धर्मकी कथा कही वह भी *'संसारहित'* कही। संसारकी स्त्रियोंको उपदेश है कि पतिव्रता होना चाहें तो श्रीसीताजीका स्मरण करें। (ग) ऐसा ही पार्वतीजीके विषयमें कहा है, यथा—*'एहि कर नाम सुमिरि संसारा। तिय चढ़िहहिं पतिब्रत असिधारा॥'* [मिलान कीजिये शि० पु० २। ३ **'तव स्मरणतो नार्यो भवन्ति हि पतिव्रताः। त्वदग्रे कथने माने न किं देवि प्रयोजनम्। तथापि कथितं मेऽद्य जगदाचारतश्शिवे॥'** (अ० ५४। ८१-८२) अर्थात् तुम्हारे नामका स्मरण करनेसे स्त्रियाँ पतिव्रता होंगी। हे देवि! तुमसे विशेष क्या कहना! मैंने यह तुमसे जगत्के आचारके निमित्त कहा है। यह पातिव्रत्यधर्मोपदेश चौपाइयोंमें हुआ। कारण कि चौपाइयोंको पुरइन कहा है। सघन पुरइनें जलको ढँके रहती हैं। वैसे ही यह उपदेश श्रीसीताजीके लिये नहीं है, औरोंके लिये इनके मिषसे है]।

श्रीचक्रजी—*'सुनु सीता तव नाम'*······' इति। *'तव नाम सुमिरि'* का भाव यह है कि 'सीता' इस नामके स्मरणसे नारियोंके मनकी दुर्भावना दूर होती है। यह नाम ऐसा दिव्य प्रभावमय है कि उसके स्मरणसे नारियोंमें पातिव्रत्यका भाव जाग्रत् होता है। पतिव्रताकी शक्ति उन्हें मिलती है। अनुसूयाजी श्रीजानकीजीको उपदेश करनेके बहाने जगत्की नारियोंको यह गुप्त मन्त्र बतला रही हैं। *'कहिउँ कथा संसार हित'* में उन्होंने यह बात भी ध्वनित कर दी है।

वि० त्रि०—'सीता' नामके स्मरणसे पातिव्रत्यका निर्वाह होता है। अतः पहिलेकी भाँति *'सुनु राजकुमारी'* न कहकर नाम लेकर *'सुनु सीता'* कहती हैं। गौरीका नाम लेकर स्त्रियाँ पातिव्रत्यरूपी खड्गधारापर चढ़ती हैं और तुम्हारा नाम लेकर उनका निर्वाह होता है।

अत्रि-आश्रमसे बिदाई

सुनि जानकी परम सुखु पावा। सादर तासु चरन सिरु नावा॥ १॥
तब मुनि सन कह कृपा निधाना। आयसु होइ† जाउँ बन आना॥ २॥
संतत मो पर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेहु जनि नेहू॥ ३॥

अर्थ—श्रीजानकीजीने सुनकर परम आनन्द पाया और आदरपूर्वक उनके चरणोंमें माथा नवाया॥ १॥ तब कृपासागर श्रीरामजीने मुनिसे कहा कि आज्ञा हो तो अब मैं दूसरे वनको जाऊँ॥ २॥ मुझपर निरन्तर कृपा करते रहियेगा और अपना सेवक जानकर प्रेम न छोड़ियेगा॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुनु सीता तव नाम'* कहकर अनुसूयाजीने ऐश्वर्य प्रकट किया; पर इन्होंने अपने ऐश्वर्यको गुप्त रखा। अतः यहाँ कहा कि *'जानकी परम सुख पावा।'*······*'सिरु नावा।'* इन्होंने माधुर्य ही दृढ़ रखा। जैसे श्रीरामजीने मुनिसे माधुर्य बरता वैसे ही इन्होंने अनुसूयाजीसे। अतः इनके सुनने और

* पातिव्रत्यका माहात्म्य यथा—'सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके न बोधयामास पतिं पतिव्रता॥ पतिव्रताशापभयेन पीडितो हुताशनश्चन्दनपंकशीतलः।'—(पु० रा० कु०) अर्थात् पतिव्रता स्त्रीकी गोदमें सिर रखकर पति सो रहा था, उसी समय उसने देखा कि पुत्र अग्निकुण्डमें जाकर गिर गया। फिर भी वह पुत्रको बचानेके लिये न उठी कि पतिकी नींद उचट जायगी। अग्निने यह सोचकर कि यदि मैं पुत्रको जलाता हूँ तो पतिव्रता शाप दे देगी, इस भयसे वह चन्दनवत् शीतल हो गया।

† होउ-को० रा०। होइ—१७०४, १७२१, १७६२ छ०, भा० दा०।

मस्तक नवानेमें 'जानकी' माधुर्य नाम दिया। (ख) *'अनुसूयाके पद गहि सीता'* उपक्रम है और *'सादर तासु चरन सिरु नावा'* उपसंहार। (ग) ऋषिपत्नी इनको पाकर बड़ी सुखी हुई थीं, अतः ये भी बड़ी सुखी हुईं। जैसे *'ऋषिपतिनी मन सुख अधिकाई'* वैसे ही यहाँ *'जानकी परम सुख पावा।'* यहाँ **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११) को चरितार्थ किया। पुनः, जो अपनेको प्रिय होता है उसको दूसरोंसे भी सुननेसे सुख होता है। श्रीसीताजीको पातिव्रत्य परम प्रिय है अतः उसका उपदेश सुनकर परम सुख हुआ। पुनः, *'परम सुख पावा'* का भाव कि पूजासे सुख हुआ और धर्मोपदेश सुनकर परम सुख हुआ। अर्थात् भूषणवस्त्रादि पानेसे सुख हुआ और यह परमार्थका उपदेश है अतः इससे परम सुख हुआ। जैसे ब्राह्मणीके पतिव्रताधर्मोपदेशसे श्रीपार्वतीजीका सुख पाना कहा है, यथा—**'शिवां मुदमतिप्राप पार्वतीशंकरप्रिया।'** (शि० पु० २। ३। ५४) वैसे ही यहाँ श्रीजानकीजीका सुख पाना कहा गया। [(घ) *'सादर तासु चरन सिरु नावा'*— बिदा होनेपर भी प्रणाम किया जाता है, इससे जनाया कि प्रणाम करके विदा हुईं, यथा—*'तासु चरन सिरु नाइ करि प्रेमसहित मतिधीर। गयउ गरुड़ बैकुंठ तब'''''।'* (७। १२५) इससे यह भी जनाया कि आपका प्रत्युपकार मुझसे नहीं हो सकता, यथा—*'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥'* (७। १२५। ४) इससे कृतज्ञता सूचित की। सुशीलतासे कुछ बोलीं नहीं, केवल माथा नवाया। *'अनुसूया के पद गहि सीता'* आदिमें और अन्तमें फिर *'सिरु नावा।'* आदि-अन्त दोनोंमें प्रणाम ही मात्र है। वाल्मीकीय आदिमें इनका बोलना भी कहा गया है पर मानसमें नहीं।]

टिप्पणी—२ (क) तब अर्थात् जब श्रीसीताजी प्रणाम करके बिदा हो आयीं और इधर अत्रिजी भी पूजा-स्तुति समाप्त कर चुके। अत्रि-राम-संवाद और अनुसूया-सीता-संवाद दोनों एक साथ ही प्रारम्भ और समाप्त हुए। (ख) 'कृपानिधान' विशेषण दिया, क्योंकि दण्डकारण्यमें और भी ऋषियोंको सुख देना चाहते हैं। इस वनमें अत्रिमुनि ही प्रधान हैं, इसीलिये अन्य वनको जानेमें उनकी आज्ञा ली, यथा—*'प्रभुपद अंकित अवनि बिसेषी। आयसु होइ त आवउँ देखी॥ अवसि अत्रि आयसु सिरु धरहू। तात बिगत भय कानन चरहू॥'* (२। ३०८) पुनः, अत्रिजीके आश्रमतक एक ही वन है; अतः *'जाउँ बन आना'* कहा। (ग) *'संतत कृपा करेहू', 'तजेहु जनि नेहू',* यथा—**'स्नेहः प्रवासाश्रयान्'** ऐसा कहा। अत्रिजीने कहा था कि *'चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजै मति मोरि',* वैसे ही प्रभुने कहा कि *'सेवक जानि तजेहु जनि नेहू।'* सेवकपर स्वामी कृपा-स्नेह करते ही हैं, यथा-*'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं'* (१। १६७। ७) वैसे ही मैं सेवक हूँ आप स्वामी हैं, मुझपर वैसा ही स्नेह बनाये रहियेगा।

☞यहाँ इस प्रकरणमें श्रीसीताजीकी निरभिमानता दिखायी है। ये पतिव्रता-शिरोमणि हैं, यथा—*'सती सिरोमनि सिय गुन गाथा।'* उनको कोई क्या उपदेश देगा कि*'लोकप होहिं बिलोकत जाके।'* तो भी वे सादर अनुसूयाजीका पातिव्रत्यधर्मोपदेश सुनती रहीं और अन्तमें कृतज्ञता सूचित करते हुए उन्होंने चरणोंमें मस्तक नवाया। इससे हमलोगोंको उपदेश ग्रहण करना चाहिये कि अपनेसे बड़ोंका उपदेश निरभिमान होकर आदरपूर्वक सुना करें, चाहे हम उसे जानते भी क्यों न हों।

प० प० प्र०—भगवान् अपने आचरणद्वारा उपदेश देते हैं कि जब हम क्षत्रिय-वेष धारणकर मुनियों-विप्रोंका सम्मान करते हैं तब अन्य सबोंको भी यही अपना कर्तव्य समझना चाहिये—**'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥'** (गीता ३। २१) *'संतत मो पर कृपा करेहू''''''* यह है भारतीय सनातन वैदिक धर्मकी मर्यादा। चक्रवर्ती महाराजके परमप्रतापी राजकुमार एक मुनिके सामने इस प्रकार कृपाकी याचना करते हैं।*'संतत दासन्ह देहु बड़ाई'* भी इसका एक हेतु है।

धर्मधुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ग्यानी॥ ४॥
जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथबादी॥ ५॥

ते तुम्ह राम अकाम पिआरे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे॥ ६॥
अब जानी मैं श्री चतुराई। भजी* तुम्हहि सब देव बिहाई॥ ७॥
जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई॥ ८॥

शब्दार्थ—**परमारथबादी**=जो ब्रह्मके साक्षात् करनेमें प्रबल हैं। ब्रह्मतत्त्वके जाननेवाले, ज्ञानी। यथा—'*राम ब्रह्म परमारथ रूपा।*'=ब्रह्मविचारमें कुशल पण्डित, यथा—'*सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद।*' '*जेहि समान अतिसय*', यथा—'**न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते**' इति (**श्वेताश्वतर श्रुतिः**)'—

अर्थ—धर्मधुरन्धर प्रभुके वचन सुनकर ज्ञानी मुनि प्रेमपूर्वक बोले॥ ४॥ ब्रह्मा, शिव और सनकादि सभी परमार्थवादी जिसकी कृपाकी चाह करते हैं, हे राम! वही आप जिनको निष्काम भक्त प्रिय हैं और जो निष्काम भक्तोंके प्यारे एवं दीनबन्धु हैं जिन्होंने (ऐसे) कोमल वचन कहे॥ ५-६॥ अब मैंने आपकी वा लक्ष्मीजीकी चतुराई समझी कि सब देवताओंको छोड़कर तुम्हें भजना चाहिये वा भजा॥ ७॥ जिनके समान या अधिक कोई नहीं है उसका शील ऐसा क्यों न हो?॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) **'*धर्मधुरंधर प्रभु*'**, यथा—'***धर्मसेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम***' (वसिष्ठ-वाक्य अ० २४८), '***सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ज्ञानी॥ कस न कहहु अस रघुकुल केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥ श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह*****……।** (२। १२६)(वाल्मीकि-वचन) भाव कि आप धर्मकी मर्यादाके पालक हैं, रक्षक हैं, अतः ऐसे वचन कहना आपके योग्य ही है। जो आप स्वयं सबपर कृपा करते हैं वे ही मुनिसे कृपा माँगते हैं—'***संतत मोपर कृपा करेहू***', 'क्योंकि धर्मधुरन्धर हैं, मर्यादा नहीं छोड़ते। अत्रिजी ब्राह्मण और ऋषि हैं और आप क्षत्रिय वेषमें हैं, इस नाते उनके सेवक बनते हैं। (ख) '***प्रभु***' अर्थात् सब इनकी आज्ञा पालते हैं। यथा—'***बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करमकुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोगसिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के।***' (२। २५४) (ग) '***मुनि ज्ञानी***' के साथ '***सप्रेम***' पद दिया, क्योंकि प्रेम बिना ज्ञानकी शोभा नहीं। [यथा—'***सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥***'(२। २७७। ५)'***बहुरि लखन सिय प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ज्ञानी॥***' (वसिष्ठजी २। १७१) '***निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥***' (सुतीक्ष्णजी) पुनः, भाव कि माधुर्यमें न भूले। आशीर्वाद न देकर इस तरह बोले। अतः '***ज्ञानी***' कहा। (पं० रा० व० श०)]

प० प० प्र०—'***धर्मधुरंधर*****……**'। इसमें उपदेश है कि जो कोई धर्मसंस्थापक नामसे कोई कार्य करता हो उसका प्रथम कर्तव्य है कि पहिले स्वयं धर्मका पालन करे, नहीं तो '***पर उपदेस कुसल बहुतेरे।*****……**' में ही उनकी गणना होगी। वेदशास्त्रकी मर्यादाका पालन करना धर्मोपदेशक, राष्ट्रभक्त, देशभक्त, समाजसेवक इत्यादि बड़े लोगोंका कर्तव्य है। पर आज तो '***मारग सोइ जा कहँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥***'

टिप्पणी—२ '***संतत मोपर कृपा करेहू***' का उत्तर '***जासु कृपा अज सिव*****……**' है। '***सेवक जानि तजेहु जनि नेहू***' का उत्तर '***ते तुम्ह राम अकाम पियारे***' है और '***आयसु होइ जाउँ बन आना***' का उत्तर '***केहि बिधि कहउँ जाहु अब स्वामी***' है।

टिप्पणी—३ '***चहत सकल परमारथबादी***' का तात्पर्य है कि—(क) रामकृपा ही परमार्थ है। पुनः, (ख) स्वार्थरत लोग तो स्वार्थके लिये चाहते ही हैं पर जिनकी दृष्टिमें स्वार्थ नहीं है, वे भी आपको चाहते हैं। तात्पर्य कि जब सकाम और निष्काम दोनों ही आपको प्यार करते हैं तब हम स्नेह क्योंकर छोड़ सकते हैं? इससे यह भी जनाया कि बिना रामकृपाके वे परमार्थसाधनको व्यर्थ समझते हैं, इसीसे कृपाकी चाह करते हैं। [ब्रह्माजी ब्रह्मविद्याके सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं, शिवजी साक्षात् दक्षिणमूर्ति हैं, यथा—'**तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नमः इदं श्रीदक्षिणमूर्तये**', सनकादिक निवृत्तिमार्गके उपदेष्टा हैं। ये सभी परमार्थवादी हैं। आपकी

* भजिय—रा० गु० द्वि०, वं० पाठक। भजी—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, को० रा०।

कृपा चाहते हैं क्योंकि आप स्वयं परमार्थरूप हैं (वि० त्रि०)। कृपा चाहते हैं, यथा—*'अब दीनदयाल दया करिये। मति मोरि बिभेदकरी हरिये॥""""॥'* (ब्रह्माजी), *'मामभिरक्षय रघुकुलनायक'* (त्रिपुरारिजी), **'रघुनंद निकंदय द्वंद्वघनं। महिपाल बिलोकय दीन जनं॥'** (उमापति); ***'परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम। प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥"""'*** (सनकादिकजी); ***'मामवलोकय पंकजलोचन। कृपा बिलोकनि सोच बिमोचन॥'*** (नारदजी)]

टिप्पणी—४ *'ते तुम्ह राम अकाम पिआरे।'* अभिप्राय यह कि आपका भजन करके दास अकाम हो जाते हैं तब आपको कौन-सी कामना है कि जो आप मेरी कृपा चाहते हैं। पुनः, भाव कि कामनासे तो सभी प्यारे होते हैं पर आप कामनारहित होते हुए भी प्यारे हैं। (खर्रा)।*'अकाम पियारे'* कहकर *'दीनबन्धु'* कहनेका भाव कि मैं अकाम नहीं हूँ पर दीन हूँ, इसीसे आप मुझ दीनपर कृपा करके ऐसे मृदु वचन कह रहे हैं।

'अब जानी मैं श्री चतुराई""' इति।

पु० रा० कु०—आपकी चतुराई जानी। क्या? यह कि आप सबसे बड़े हैं इसीसे ऐसी विनम्र वाणी बोले। अर्थात् अपनी नम्रतासे ही आपने अपनी श्रेष्ठता जना दी यह चतुराई है। अथवा, *'श्री'* (=लक्ष्मी) की चतुराई जानी कि क्यों सब देवताओंको छोड़कर आपको ही जयमाल पहनाया था। ऐसा करके उन्होंने जना दिया कि सबमें आप ही बड़े हैं। पुनः, *'अब जानी'* अर्थात् सुनी तो पहले थी पर अब समझा।

दीनजी—यहाँ, **श्री**=लक्ष्मी। जो तुमको श्रीजीने पतिरूपसे ग्रहण (वरण) किया उसकी चतुराई मैं अब समझा कि क्यों सबको त्यागकर आपको जयमाल डाला था। यहाँ श्रीरामजीकी चतुराईका प्रसङ्ग नहीं है। वे कोई चतुराई नहीं करते हैं। वे तो बड़े सरल हैं, यथा—*'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।'* (१। २३७) *'सहज सरल सुनि""'*।

प्र०—(क) भाव यह कि आप अपने भक्तोंको अपनेसे भी अधिक सम्मान देते हैं और अन्य देवता भक्तोंको सेवकके ही समान रखते हैं। वा, (ख) आपने मृदु वचन कहे इससे मैंने आपको दीनबन्धु जाना, अतएव हमारी चतुराईकी शोभा यही है कि आपको ही भजूँ।

नोट—१ *'सब देव बिहाई'* इति। यहाँ प्रभुके शील-गुणकी प्रशंसाका प्रसङ्ग है—*'ताकर सील कस न अस होई।'* जो ब्रह्मा-शिवादिके सेव्य हैं, आप्तकाम हैं, वे इतने विनम्र होकर आज्ञा माँग रहे हैं। ऐसा शील किसीमें नहीं है। ऐसा कोई नहीं है जिसको प्रभुताका मद न हो। देवता थोड़ेमें ही प्रसन्न होते हैं और थोड़ेहीमें 'गरम' हो जाते हैं, उनको अपने *'निवाजे'* की लाज नहीं। वे पूजाके अनुमान ही सेवकको सुख देते हैं। और प्रभुने तो जिसे अपनाया उसे अपनाया ही, *'परखेउ न फेरि खर खोट', 'जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥'* और *'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती'* ये गुण आपमें हैं अन्य किसीमें नहीं। इत्यादि जानकर श्रीजीने आपकी सेवा ग्रहण की।

नोट—२ मिर्जापुरी पं० रा० गु० द्विवेदीजी और भा० दा० की प्रतियोंमें 'भजी' पाठ है। उसके अनुसार 'श्री' का अर्थ 'लक्ष्मी' वा 'जानकीजी' है, यथा—*'उभय बीच श्री सोहइ कैसी।'* (३। ७। ३) लक्ष्मीजीने भगवान्‌को जयमाल पहनाया और श्रीजानकीजीने स्वयंवरमें जहाँ सब *'देव दनुज धरि मनुज सरीरा'* आये थे श्रीरामजीको ही मन-वचन-कर्मसे भजा और ब्याहा। अन्य टीकाकारोंने 'भजिय' पाठ रखा है। पं० शिवलाल पाठक भी 'भजी' पाठ देते हैं, बैजनाथजीने 'भजी' पाठ देकर अर्थ किया है 'बरी' (=ब्याही)।

पं० रा० व० श० जी कहते हैं कि वन्दन पाठकजीकी प्रतिमें 'भजिअ' है। यह पाठ प्रधान है। भाव यह कि सबसे बड़ी चतुराई यह है कि आपका भजन करे, सबको छोड़े। दूसरा अर्थ यह है कि आपकी चतुराई मैं जान गया कि आप भक्तोंके साथ ऐसा बर्ताव क्यों करते हैं। वह यह है कि जिसमें आपका स्वभाव देखकर आपका ही हो रहे।

नोट—३ *'जेहि समान अतिसय नहिं कोई""'*। भाव कि जब कोई समान ही नहीं है तब 'अतिशय' कहाँसे होगा। वा, 'अतिशय समान तो अभावमें कोई नहीं है'। [उसका शील ऐसा होना ही चाहिये अर्थात्

नम्रताकी बड़ाई बड़ोंमें ही होती है। (प्र०) *'जानी श्री चतुराई'* कहकर *'ताकर सील कस न अस होई'* कथनसे जनाया कि श्रीजीने यह शील देखकर ही आपका भजन किया। त्रैलोक्यकी प्रभुता शीलवान्‌का ही भजन करती है। महाभारतमें शीलनिरूपणाध्याय द्रष्टव्य है। (वि० त्रि०)]

नोट—४ मिलान कीजिये—'**नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयाऽऽत्तलीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः। रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः॥**' (भा० ९। ११। २०) अर्थात् जिन रघुनाथजीके पराक्रम, तेज आदिके समान अथवा अधिक कहीं किसीका पराक्रम, तेज आदि नहीं है उनके लिये राक्षसवध, समुद्रबन्धन आदि कौन यशकी बात है? पुनश्च, यथा श्रुतिः—'**न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**' (श्वे० ६। ८)

केहि बिधि कहौं* जाहु अब स्वामी। कहहु नाथ तुम्ह अंतरजामी॥ ९ ॥
अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा। लोचन जल बह पुलक सरीरा॥ १०॥

छन्द—तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिए।
मन ग्यान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किए॥
जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।
रघुबीरचरित पुनीत निसिदिन दास तुलसी गावई॥

अर्थ—हे स्वामी! मैं किस प्रकार कहूँ कि 'स्वामी, अब जाइये'। हे नाथ! आप ही कहिये, आप तो अन्तर्यामी हैं॥ ९॥ ऐसा कहकर धीर मुनि प्रभुको देखने लगे, उनके नेत्रोंसे जल बह रहा है, तथा शरीर पुलकित है॥ १०॥ श्रीअत्रिजीका शरीर परिपूर्ण रोमाञ्चित हैं, निर्भर (परिपूर्ण, अतिशय) प्रेमसे पूर्ण है, नेत्रोंको मुखकमलमें लगाये हुए हैं। (मनमें विचारते हैं कि) मैंने कौन-से जप, तप किये कि मन, ज्ञान, गुण और इन्द्रियोंसे परे प्रभुके मैंने दर्शन पाये†। जप, योग और धर्मसमूहसे मनुष्य अनुपम भक्तिको पाते हैं। (तुलसीदासजी कहते हैं कि) रघुवीर श्रीरामजीके पवित्र चरित्रको तुलसी दिन-रात गाता है।

टिप्पणी—१ *'केहि बिधि कहौं जाहु अब स्वामी'*······' इति (क) अर्थात् ऐश्वर्य, माधुर्य दोनों तरहसे कहते नहीं बनता। [मिलान करो श्रीजनकजीके विचारसे कि *'हम अब बन ते बनहि पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई॥'* (२। २९२। ४)] अथवा, (ख) 'स्वामी, नाथ, अन्तर्यामी' इन तीनों विधियोंसे ऐसा कहते नहीं बनता। पुनः, (ग) भाव कि यह कैसे कहूँ कि वनको जाओ, क्योंकि आप तो सर्वत्र हैं, यथा—*'जहँ न होहु तहँ देहु कहि'* एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेको कहनेसे आपमें एकदेशीयताका दोषारोप होगा। कदाचित् आप समझें कि मैं ऊपरसे कहता हूँ तो आप अन्तर्यामी हैं। पुनः, नाथके जानेसे सेवक अनाथ हो जायगा, यह कैसे कहूँ कि मुझको अनाथ करके जाइये, यथा—*'जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ॥'* (कौसल्यावाक्य अ० ५७) (खर्रा)। पुनः, (घ) भाव कि ईश्वर जानकर यह कहते नहीं बनता कि हमसे जुदा हो, राजकुमार जानकर भी नहीं कहते बनता कि वनको

* वन—को० रा०।

† १ वै०—अर्थ—'ऐसे प्रभुको मैंने नेत्रभर देखा तो अब क्या बाकी रहा? अब इसी रूपको सदा अवलोकन करना ही उचित है, अब जप-तप आदि करनेसे क्या लाभ है? इससे अधिक कौन लाभ है जिसके लिये जप आदि करें?'

२ जोड़के श्लोक, यथा—'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः। श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥', 'किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः। किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद्द्रक्ष्याम्यद्य केशवम्॥' (भा० १०। ३८। १,३) अर्थात् 'दान, तप, होम, व्रत, जप, वेदाध्ययन और शमदमादि नियम इत्यादि अनेक पुण्य कर्मोंसे भगवान् कृष्णकी भक्ति साधी जाती है।' अक्रूरजी मन-ही-मन सोच रहे हैं कि मैंने कौन पुण्य कर्म किये, कौन-सा महान् तप किया अथवा किस योग्य पात्रको मैंने कभी दान दिया जिससे आज मुझे भगवान्‌का दर्शन होगा? (पं० रामकुमारजी)

जाइये; क्योंकि वन कठोर और भयानक है और आप कोमल हैं। पुनः, (ङ) आप स्वामी हैं, सेवक स्वामीको जानेको कैसे कह सके? आप नाथ हैं। नाथके बिना सेवक अनाथ होकर कैसे रहना चाहेगा? पुनः, आपके जानेपर फिर कौन ठिकाना? क्योंकि आप ही प्राणोंके प्राण हैं। (रा० प्र०)

नोट—१ मुनिजीके इस चतुराईके कथनपर विचार करनेसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजीका कहा हुआ यह श्लोक याद आता है—**'मा गा इत्यपमङ्गलं व्रज सखे स्नेहेन हीनं वचस्तिष्ठेति प्रभुता यथाभिलषितं कुर्वित्युदासीनता॥'** अर्थात् हे प्रभो! यदि मैं कहूँ कि 'मत जाइये' तो ऐसा कहना अपमङ्गल होता है और 'जाइये' इस वचनके कहनेसे स्नेहशून्यता पायी जाती है। 'ठहरो' ऐसा कहनेसे प्रभुता पायी जाती है तथा 'जैसी रुचि हो वैसा ही कीजिये' ऐसा कहनेसे उदासीनता पायी जाती है। अतः आप अन्तर्यामी हैं, मैं कुछ नहीं कह सकता। (रणबहादुरसिंहजी) यह भाव मा० म० का है और उसीसे सम्भवतः भारतेन्दुजीने लिया हो। मा० म० कारका दोहा यह है—***'कहि जैबो अनुराग हत, रखिबो मेटे बाग। ताते हौं कछु ना कहौं कीजे जो प्रिय लाग॥'***

टिप्पणी—२ (क) ***'लोचन जल बह'*** इति। प्रभुके आगमनपर भी मुनिके प्रेमाश्रु निकल पड़े थे, यथा—***'प्रेम बारि दोउ जन अन्हवाए',*** और अब चलते समय भी। अर्थात् संयोग और वियोग दोनोंमें अश्रुप्रवाह चला, भेद केवल इतना है कि संयोगमें आनन्दके कारण और वियोगमें दुःखके कारण आँसू बहे। [नयन जल और पुलकका एक कारण वियोग तो है ही, दूसरा कारण उनके गुणोंका स्मरण कि ऐसे कृपालु दीनबन्धु हैं कि यहाँ आकर मुझे दर्शन दिया, पूजा स्वीकार की इत्यादि। यथा—***'सुमिरि रामके गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना॥'*** (प० प० प्र०)] (ख) यही दशा शिवजीकी हुई थी, यथा—***'भरि लोचन छबि सिंधु निहारी।'''''''पुनि पुनि पुलकत कृपा निकेता॥''''''''भये मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥'*** (१। ५०) यही भाव यहाँके ***'लोचन''''''''प्रेम पूरन'*** का है। पुनः, यथा—***'सकल सखीं गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना॥'*** (१। ६८) (इस उदाहरणमें भी आनन्द और दुःख दोनोंमें एक ही दशा दिखायी है पृथक्-पृथक् व्यक्तियोंमें। मेना, हिमाचल और सखियोंको तो दुःखके कारण ***'पुलक सरीर भरे जल नैना।'*** और गिरिजाजीकी हर्षके कारण यह दशा हुई। यथा—***'सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहि उमा हरषानी॥ नारदहू यह भेद न जाना। दसा एक समुझब बिलगाना॥'*** (१। ६८। १-२) इन सबोंकी एक ही दशा एक ही समय हुई। मुनिकी एक ही-सी दशा दो भिन्न-भिन्न अवसरोंपर हुई।) (ग) ***'मुनि धीरा'*** अर्थात् सात्त्विक भावोंकी प्रबलतासे अधीर तो हो गये हैं, तो भी धीरज धरे रहे।

टिप्पणी—३ (क) ***'नयन मुख पंकज दिए',*** यथा—***'देखि राम मुख पंकज मुनिवर लोचन भृंग। सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभंग॥'*** (७) ***'मुख सरोज मकरंद छबि करै मधुप इव पान।'*** (१। २३१) ***'अरबिंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृङ्ग पिए'*** (क०)। जो भाव इन उपर्युक्त उदाहरणोंका है वही ***'नयन मुख पंकज दिए'*** का है। अर्थात् नेत्र भृङ्गवत् हैं, श्रीराममुख कमल है। मुनिके नेत्ररूपी भौंरे श्रीरामजीके मुखरूपी कमलके छबिरूपी मकरन्दरसको पान कर रहे हैं और मुखकमलपर ही मँडरा रहे हैं, उसको छोड़ते नहीं। पुनः, [मुखकमलमें नेत्रोंको लगा देनेका भाव कि न जाने फिर कब इनको दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो, न जानेपर फिर दर्शन हों या न हों, अतः आज तो अघाकर देख लूँ, यह अवसर तो न जाने दूँ। (रा० प्र०) पुनः भाव कि ***'निरखि निरखि स्यामल मृदु गाता', 'स्यामतामरस दाम शरीरं। जटामुकुट परिधन मुनि चीरं। पानि चाप कटि सर तूनीरं॥'*** मूर्तिको ***'नयन मग उर आनि'*** मनरूपी कूचीसे चित्तपटपर प्रेममसिसे लिखने लगे। प० प० प्र०)] (ख) मुनिको दर्शनकी अत्यन्त आकाङ्क्षा थी, इसीसे ग्रन्थकारने भी कई बार उनका देखना लिखा यथा—(१) ***'देखि रामछबि नयन जुड़ाने',*** (२) ***'भरि लोचन सोभा निरखि',*** (३) ***'अस कहि प्रभु बिलोकि मुनिधीरा',*** (४) ***'नयन मुख पंकज दिए'।***

टिप्पणी—४ ***'मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख''''''''*** इति। (क) यह मुनिके मनके विचार हैं कि

मन, ज्ञान (बुद्धि और इन्द्रियोंकी गति जहाँ नहीं है, जो इन सबोंसे परे हैं तथा सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंसे (जिनसे सारी सृष्टिकी रचना होती है उनसे भी) परे हैं, गुणातीत हैं, यथा—*'माया गुन ज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता।'* (१। १९२) *'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'* (१। ३४१। ७) (तर्क बुद्धिसे होता है), उन परम प्रभुका मैं नेत्रोंसे दर्शन कर रहा हूँ। (ख) *'जप तप का किए'* अर्थात् प्रभुका दर्शन तो समस्त साधनोंका फल है, यथा—*'आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥ सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥'* (२। १०७) *'सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥'* (२। २१०) [पर मैंने कौन जप, तप आदि साधन किये? मैंने तो कुछ भी नहीं किया, प्रभुने मुझपर यह अहैतुकी कृपा की। अथवा मैंने कौन ऐसे जप-तप किये जिनके फलस्वरूप प्रभुका दर्शन मुझे मिला? आगे जपादिसे प्रभुके दर्शनका निराकरण करते हैं। (रा० प्र०)]

प० प० प्र०—महर्षि अत्रि और श्रीअनसूयाजीने कैसी घोर तपश्चर्या की यह पुराणों और रामायणोंसे सब जानते हैं, किन्तु उनके वचनों और विचारोंसे स्पष्ट प्रतीति होती है कि जो कुछ साधन किये गये उनका स्मरण भी उनको न रह गया, उनको तो ऐसा लग रहा है कि मैंने तो कुछ भी नहीं किया। अपनेसे कुछ भी साधन हुआ नहीं, होता भी नहीं और न होगा ऐसी भावनाका सदा सर्वकाल विधिपूर्वक निष्कपटरीत्या साधनमें लगे रहनेपर भी मनमें रहना—यह है दीनताका लक्षण! और भगवान् दीनोंहीपर दया करते हैं। यथा—*'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥'* (८। ४) *'मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं॥ नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥ एकबानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥'* (१०। ६—८) इत्यादि। श्रीशबरीजीका अधिकार और दीनताका शतांश भी हमलोगोंमें हो तो भी प्रभु दया करेंगे।

टिप्पणी—५ *'जप जोग धर्म समूह ते·········'* इति। (क) जप-योग आदि धर्म-समूहसे हरिभक्ति मिलती है, यथा—*'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥ नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥ भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥ जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरि भगति भवानी॥'* (७। १२६) वही भक्ति चरितके गानसे प्राप्त हो जाती है, यथा—*'रावनारि जस पावन गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥'* (४६) *'अनुपम'* का भाव कि कर्म, धर्म, ज्ञान कोई भी इसके समान नहीं है जिनकी उपमा दी जा सके। पुनः, (ख) *'जप'*=मन्त्रजप, यथा—*'मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा।'* (३६। १) इससे उपासना कही। 'योग' से ज्ञान कहा, यथा—*'जोग ते ज्ञाना।'* (१६। १) और 'धर्म' से कर्म कहे। इस तरह भाव हुआ कि कर्म, ज्ञान और उपासना काण्डत्रयसमूह जब किये जायँ तब भक्ति मिले। तात्पर्य कि श्रीरामभक्ति काण्डत्रयसे परे है, श्रेष्ठ है। (ग) *'रघुबीर चरित तुलसी गावई'* का भाव कि जिस श्रीरामभक्तिको लोग जप, योग, धर्मसमूह करके पाते हैं वही भक्ति मैं तुलसीदास श्रीरघुवीर-चरित गाकर पाता हूँ। यह कहकर आगे उसी चरितका माहात्म्य कहते हैं—*'कठिन काल······।'* अपने लिये जप आदि द्वारा भक्तिकी प्राप्ति नहीं कहते, कारण कि *'कठिन काल......।'* (खर्रा)

टिप्पणी—६ *'रघुबीर चरित पुनीत·········'* इति। यहाँ प्रसङ्गकी समाप्ति करते हैं। प्राय: मानसमें, अन्य रामायणोंकी तरह सर्ग या अध्याय आदि नहीं लिखे हैं, प्रसङ्गद्वारा अध्यायसमाप्तिमें वे अपना या और निबन्धकारोंका नाम रखते हैं।

पु० रा० कु०—वाल्मीकिजीके मतसे अयोध्याकाण्डकी इति गोस्वामीजीने यहाँ *'कठिन काल·········'* पर लगायी और अपने मतसे भरतचरितपर अयोध्याकाण्डकी समाप्ति की। वहाँ भरतचरितकी समाप्ति सोरठामें की और यहाँ भी सोरठामें ही इति लगायी। इसीसे ये छ: दोहे इस काण्डके अन्य ४० दोहोंसे गिनतीमें

पृथक् किये गये।* जयन्त-प्रसङ्गके बाद *'सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई॥'* यह चौपाई है और अत्रि-प्रसङ्गके बाद *'मुनिपद कमल नाइ करि सीसा। चले बनहि सुर नर मुनि ईसा॥'* यह चौपाई है। नये प्रसङ्गका यहाँसे प्रारम्भ है, यह चौपाई उपक्रम है।

खर्रा—अयोध्याकाण्डमें किसीका संवाद नहीं कहा; इससे अरण्यके छः दोहोंके भीतर सब संवाद कह दिये। अयोध्याकाण्डकी समाप्ति सोरठापर की थी—*'भरत चरित करि नेम'*……—अतः अरण्यकाण्डको *'उमा राम गुन गूढ़'*…… सोरठेसे ही प्रारम्भ करके दूसरी इति सोरठेहीपर लगायी—*'कठिन काल मल कोस'*……।'

दो०—कलिमल समन दमन मन राम सुजस सुख मूल।
सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल॥ ६॥
सो०—कठिन काल मल कोस धर्म न ज्ञान न जोग जप।
परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका सुन्दर यश कलिके पापोंका नाशक, मनका दमन करनेवाला और सुखकी जड़ है। जो इसे सादर सुनते हैं उनपर श्रीरामजी प्रसन्न रहते हैं। यह कठिन कलिकाल पापोंका खजाना है, इसमें न तो धर्म है, न ज्ञान न योग और न जप ही; इसमें तो जो सब आशा-भरोसा छोड़कर श्रीरामजीहीको भजते हैं वे ही लोग चतुर हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'कलिमल समन'*……*'अनुकूल'* इति। (क) भाव यह कि कलिमल-ग्रसित आदि लोगोंके पापोंको दूर करके सुख देता है और जो कलिमलरहित हैं, जिनका मन शान्त है और जो ब्रह्मानन्दकी भी चाह नहीं करते, वरन् निष्काम होकर रामसुयश सुनते हैं वे श्रीरामजीकी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। (ख) *'कठिन काल मल कोस'*—कलि पापोंका खजाना है अर्थात् इस युगमें मनका झुकाव पापकी ही ओर रहेगा, मन पापमें ही आसक्त रहेगा। यथा-*'कलि केवल मलमूल मलीना। पापपयोनिधि जन मन मीना॥'* (१। २७। ४) *'सुनु ब्यालारि कराल कलि मल अवगुन आगार। गुनउ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार॥'* (७। १०२) (ग) *'धर्म न ज्ञान न जोग जप'* इति। यथा—*'कलिजुग जोग न जग्य न ज्ञाना। एक अधार रामगुन गाना॥ सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुनग्रामहि॥ सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥'* (७। १०३) अर्थात् योग आदि कलिमल धोनेको समर्थ नहीं हैं, ये साधन निबह नहीं सकते। विशेष *'नहि कलि करम न भगति बिबेकू॥'* (१। २७। ७) में देखिये। विनयमें इसके भाव स्पष्ट हैं। पद १५५ *'विश्वास एक राम नाम को'* देखिये। पुनः, कलि 'मलकोश' है, वहाँ और कुछ है ही नहीं; अतः कहा कि धर्म, ज्ञान, योग, जप कुछ भी नहीं है। (घ) *'ते चतुर नर'*—जो अपना हित विचारकर उसीपर आरूढ़ हो वह चतुर है। रामभजनसे ही कलिमें निस्तार है, यह समझकर उसमें लगना यही चतुरता है। यथा—*'काल धरम नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही॥ हरिमाया कृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं। भजिय राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥'* (७। १०४)

प० प० प्र०—ऊपर तो कहा कि जपादि धर्मसमूहसे मनुष्य अनुपम भक्ति प्राप्त करते हैं और सोरठेमें उसका विरोधी वाक्य कर रहे हैं, यह कैसा? इस शङ्काका समाधान यह है कि वह अत्रिवाक्य है जो त्रेतामें कहा गया। कृत और त्रेतायुगोंमें देह, आहार, अन्न, जल, वायु आदि सब सहज ही शुद्ध और अनुकूल सुखसाध्य होते थे। तथापि इस वाक्यको सिद्धान्तरूपसे लेना भूल है, कारण कि प्रकरणार्थसे विसङ्गत है और गोस्वामीजी अपने कालकी बात कहते हैं। जैसे बीज बोनेका कार्य प्रतिकूल कालमें करनेसे वह

* भागवतदासजीकी पोथीमें इस छठे दोहेके बादसे फिर दोहोंकी गणना '१' से की गयी है। इस तरह उन्होंने अरण्यकाण्डका प्रारम्भ दोहा ६ के बादसे माना है। यही बात यहाँ पं० रा० कु० जी कह रहे हैं।

निष्फल होता है, श्रम ही हाथ लगता है; वैसे ही युगधर्मोंके विरुद्ध प्रयत्न भी निष्फल होते हैं। कलिकाल उन साधनोंके लिये प्रतिकूल है। इसमें रामभजन ही एकमात्र साधन है।

वि० त्रि०—कथा कहनेकी अपेक्षा सादर श्रवणका माहात्म्य अधिक बतला रहे हैं। भरतचरितश्रवणसे रामपदप्रेमकी प्राप्ति होती है और रामचरितश्रवणसे श्रीरामजीकी अनुकूलता होती है। यथा—*'ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जापर तुम्ह अनुकूल। प्रभु प्रताप बड़वानलहिं जारि सकै खलु तूल॥'*

प्रभु-अत्रि-भेंट-प्रकरण समाप्त हुआ।

विराध-वध-प्रकरण

मुनि पद कमल नाइ करि सीसा। चले बनहि सुर नर मुनि ईसा॥ १॥
आगे राम अनुज* पुनि पाछें। मुनिबर बेष बने अति काछें†॥ २॥
उभय बीच श्री सोहइ‡ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥ ३॥

शब्दार्थ—'काछना'=बनाना, सँवारना, पहनना। यथा—*'गौर किसोर बेष बर काछे। कर सर चाप रामके पाछे॥'* *'एई राम लखन जे मुनि संग आये हैं। चौतनी चोलना काछे सखि सोहैं आगे पाछे'* इत्यादि। यहाँ *'काछे'* और *'बने'* से पुनरुक्ति समझकर सम्भव है कि पाठ 'आछे' कर दिया गया है। यहाँ, *'बने'*=विराजमान वा शोभित हैं। और *'काछें'*=बनाये हुए। यथा—*'भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिरकनतन अति बने।'*

अर्थ—मुनिके चरणकमलोंमें मस्तक नवाकर सुर-नर-मुनिके स्वामी वनको चले॥ १॥ आगे रामचन्द्रजी हैं, पुनः पीछे छोटे भाई लक्ष्मणजी हैं, मुनिवरोंका सुन्दर वेष अत्यन्त बनाये हुए अतिशय शोभित हो रहे हैं॥ २॥ दोनोंके बीचमें श्रीजानकीजी कैसी शोभित हो रही हैं जैसे ब्रह्म और जीवके बीचमें माया (शोभित हो)॥ ३॥

मा० म०—*'मुनिपद कमल नाइ·······'*। श्रीरामचन्द्रजी बिना मुनिके स्पष्ट कुछ कहे हुए चले गये। इससे दोनोंका नियम रह गया। अर्थात् बड़ेकी आज्ञा लेकर कार्य करना उचित है सो श्रीरामचन्द्रजीने आज्ञा माँगकर पूर्ण किया और मुनि भक्त हैं, अतः उन्होंने स्वामीको जानेके लिये न कहा। इस प्रकार मुनिके प्रेमकी रक्षा भी हो गयी और इधर प्रभु भूभार उतारने, सुर-नर-मुनिकी रक्षा करनेको भी चले।

टिप्पणी—१ *'चले बनहि सुर नर मुनि ईसा'* इति (क) *'बनहि'* अर्थात् चित्रकूटके वनसे अब दूसरे वनको चले, यथा—*'आयसु होइ जाउँ बन आना।'* यह नहीं कि अभी बस्तीमें थे, अब वनको चले। (ख) क्यों वनको चले? यह *'सुर नर मुनि ईसा'* पदसे जनाया। तीनोंके स्वामी हैं, उनकी रक्षाके लिये समर्थ हैं, अतः रक्षा करनेके लिये चले। (ग) यद्यपि प्रभु अपना ऐश्वर्य छिपाये हैं पर ये सब उन्हें ईश्वर ही समझते हैं। अत्रिजी, सुतीक्ष्णजी, शरभङ्गजी, अगस्त्यजी आदि महामुनियोंने, ब्रह्मादि देवताओंने तथा शबरी आदिने ईश्वर ही प्रतिपादन करके स्तुति की है। अतः तीनोंका ईश कहा। ☞ अयोध्याकाण्डतक माधुर्यप्रधान ऐश्वर्य है, आगे ऐश्वर्यप्रधान माधुर्य है। इसीसे भरद्वाज और वाल्मीकिके मिलनप्रसङ्गमें आशीर्वाद देना लिखा है, यथा—*'दीन्हि असीस मुनीस उर अति अनंदु अस जानि। लोचन गोचर सुकृत फल मनहुँ किये बिधि आनि॥'* (२। १०६) इति भरद्वाज। पुनः, यथा—*'मुनि कहुँ राम दंडवत कीन्हा। आसिरबाद बिप्र बर दीन्हा॥'* (२। १२५) इति वाल्मीकि। उनके ऐश्वर्यकथनपर रामजी सकुचते हैं। यथा—*'सुनि मुनि बचन राम सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने॥'* (२। १०८) इति भरद्वाज। पुनः, यथा—*'सुनि मुनि बचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने॥'* (२। १२८) इति वाल्मीकि। पर ऐसा व्यवहार अरण्यकाण्डमें नहीं लिखा पाया जाता।

* लखन। † आछे। ‡ सोहति-को० रा०। * अनुज †काछे। ‡ सोहइ-१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा०।

टिप्पणी—२ (क) *'अनुज पुनि पाछे'* इति। दोनों भाइयोंका वेष एक-सा है, दोनों मुनिवेषमें है और धनुष-बाण-तरकश धारण किये हुए हैं। अतः इन दोनोंको एक साथ कहा। श्रीजानकीजीको दूसरी चौपाईमें कहा। पर 'पुनि' शब्द बड़ी चतुरताका है इससे जनाया कि रामजीके पीछे और भी कोई है तब उसके पीछे लक्ष्मणजी हैं। (ख) *'मुनिबर बेष बने अति काछे'* इति। *'बने अति काछे'* से जनाया कि धनुषबाणादि भी धारण किये हुए हैं। इतना ही कहकर वह वेष कह दिया जो अ० ११५ (६)—११५ में कह आये हैं। यथा—*'तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मनु मोहा॥ दामिनि बरन लषन सुठि नीके। नखसिख सुभग भावते जीके॥ मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहहिं करकमलनि धनुतीरा॥ जटामुकुट सीसन्हि सुभग उर भुज नयन बिसाल।'* (११५)

नोट—१ *'उभय बीच श्री सोहइ कैसी……'*। बिलकुल यही चौपाई अयोध्याकाण्डमें है, भेद केवल इतना ही है कि वहाँ *'सिय सोहति'* कहा और यहाँ *'श्री सोहइ'*। यथा—*'आगे रामु लषनु बने पाछे। तापस बेष बिराजत काछे॥ उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥'* (अ० १२३) अतः भाव वही है जो वहाँ १२३ (१-२) में लिखे गये हैं। पाठक वहाँ देख लें। यहाँ केवल इतना विचार करना है कि *'सिय'* की जगह *'श्री'* क्यों रखा है। यह बराबर दिखाया गया है कि बाल और अयोध्यामें विशेषकर माधुर्य ही वर्णित है, वही प्रधान है। पर अब पाँच काण्डोंमें और खासकर अरण्यमें ऐश्वर्य ही प्रधान है, माधुर्य यदा-कदा और वह भी प्रभुकी ही ओरसे है। यही कारण है कि इस काण्डमें 'सीता' 'लछिमन' ऐश्वर्यद्योतक नामोंका प्रयोग हो रहा है और होगा। 'सिय' और 'लषन' माधुर्यसम्बन्धी दुलार-प्यारके नामोंकी इति अयोध्याकाण्डकी समाप्तिपर ही हो गयी।—*'सीयरामपद प्रेम अवसि……'* यही कारण है कि मङ्गलाचरणमें ही *'श्रीरामभूपप्रियं'* पद दिया गया। अयोध्याकाण्डमें *'उभय बीच सिय………'* इस चौपाईके आगे-पीछे प्रायः *'सिय'* पदका प्रयोग हुआ है। यहाँ उसका नाम भी नहीं। यही कारण है कि पूज्य कविने यहाँ वही चौपाई दी पर *'सिय'* के बदले *'श्री'* पद दिया।

मानसरहस्य—इस पुनरुक्तिसे कवि पाठकका ध्यान उस चौपाईके पासकी *'प्रभुपद रेख बीचबिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥ सीय राम पद अंक बराएँ। लषन चलहिं मग दाहिन लाएँ॥'* (२। १२३। ५-६) इन अर्धालियोंकी ओर आकर्षित करके बताते हैं कि उसी रीतिसे अब भी चल रहे हैं। अर्थात् श्रीसीताजी भगवान्के चरणचिह्नोंके बीचकी जगहपर बड़ी सावधानीसे अपना पैर रखती हैं और श्रीलक्ष्मणजी तो दोनोंके सेवक ठहरे, अतः वे स्वामी और स्वामिनी दोनोंके चरणचिह्नोंको बचाकर चलना चाहते हैं। बीचमें पैर रखनेकी जगह मिलती नहीं, इसलिये दोनोंके चरणचिह्नोंको अपनेसे दाहिने लेकर उनसे बायें चलते हैं। यों करनेसे अपने दोनों सेव्योंके चरणचिह्न दाहिने रहनेसे उनका सम्मान भी हो रहा है और राहसे हटकर चलनेसे प्रेमभावकी निष्ठा भी सिद्ध हो रही है—*'रीति चलिबेकी भली प्रीति पहिचानिए॥'* [गीतावलीमें पाठ यह है—*'रीति चलिबे की, प्रीति पहिचानिकै।'* (२। ३१)]

वि० त्रि०—'श्री' शब्दके प्रयोगसे ही दिखला दिया कि इस समय भगवती सीता तापसवेषमें नहीं हैं, दिव्य वस्त्राभूषण पहिने हुए हैं जो भगवती अनुसूयाने पहिना दिया था।

टिप्पणी—३ यहाँ अध्यात्मरामायणके निम्न श्लोकोंका भाव दिखानेके लिये ही *'आगे राम……उभय बीच श्री……'* यह चौपाई कही गयी है।—**'तावेत्य विपिनं घोरं झिल्लीझंकारनादितम्। नानामृगगणाकीर्णं सिंहव्याघ्रादिभीषणम्॥ राक्षसैर्घोररूपैश्च सेवितं रोमहर्षणम्। प्रविश्य विपिनं घोरं रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ इतः परं प्रयत्नेन गन्तव्यं सहितेन मे। धनुर्गुणेन संयोज्य शरानपि करे दधत्॥ अग्रे यास्याम्यहं पश्चात्त्वमन्वेहि धनुर्धरः॥ आवयोर्मध्यगा सीता मायेवात्मपरात्मनोः॥'** (अ० रा० ३। १। १०—१३)। [अर्थात् इस वनमें ऐसा-ऐसा भय है, अतः मैं आगे रहूँगा, पीछे तुम धनुषबाण चढ़ाये चलो, बीचमें सीता चलें जैसे आत्मा-परमात्माके बीचमें माया। बैजनाथजी इसका भाव यह कहते हैं कि आत्मा और परमात्माके बीचमें आह्लादिनी माया अर्थात् भक्ति रहती है। जैसे भक्त लोग भक्तिपर दृष्टि रखते हैं वैसे ही तुम जानकीजीपर दृष्टि रखना। २ (खर्रा)—यहाँ सियशोभाकी उपमा *'ब्रह्म जीव बिच माया'* से दी। ब्रह्मजीवके बीचमें मायाकी ही शोभा अधिक देख

पड़ती है अर्थात् जगत्में सब मायाका ही चमत्कार है। अथवा, यहाँ उपमाका एक अङ्ग व्यवधान ही लिया गया, व्यवधानरूपिणी हैं यह जनाया।]

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि अयोध्याकाण्डमें 'श्रीरामजीको ब्रह्म, श्रीजानकीजीको अभिन्नशक्ति चिद्रूपा एवं कृपारूपिणी कहा गया और शुद्धजीवके रूपमें श्रीलक्ष्मणजीका होना कहा है। यहाँ फिर कहा गया, क्योंकि आगे यह चरितार्थ होगा। कृपाकी ओट लेनेमें श्रीरामजी जीवरूपी श्रीलक्ष्मणजीको गीताका उपदेश करेंगे, तुरंत ही अविद्यारूपिणी शूर्पणखा आवेगी, उसे ये उसी ज्ञानसे निशाचरी जान लेंगे। फिर प्रभुकी ही कृपादेवीके संकेतसे श्रीलक्ष्मणजीको संकेत मिलेगा जिससे वे शूर्पणखाको कुरूपा करके त्याग करेंगे कि फिर उनकी दृष्टिमें वह न आवेगी। फिर उसके प्रतिकारमें खर-दूषणादिकी बाधाओंको कृपा करके श्रीरामजी ही अपने ऊपर ले लेंगे। उन्हें क्षणभरमें नाश कर देंगे। यह सब कृपादेवीकी ओट लेनेके भाव हैं। जीवके उद्धार करनेमें कृपादेवीकी शोभा होती है, वही शोभा यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है।'

यद्यपि ग्रन्थोंमें श्रीसीताजीको चिद्रूपा और कृपारूपिणी कहा है और वे हैं ही चिद्रूपा आदि, तथापि यहाँ उनके इन गुणोंके प्रतिपादनका कविका लक्ष्य नहीं जान पड़ता, क्योंकि उस विषयके बोधक कोई शब्द यहाँ नहीं हैं। यहाँ केवल श्रीजानकीजीका श्रीरामजीका अनुगमन करना और तत्पश्चात् लक्ष्मणजीका सावधानतापूर्वक उनकी रक्षा करते हुए उनके पीछे चलना ही कविका कथन है। वाल्मी० में ऐसी सावधानता न होनेसे ही विराध ले भागा है। यदि यहाँ ऐसा ही मान लें (जैसा श्रीकान्तशरणजीने लिखा है) तो इसके माननेसे मायाका जो दृष्टान्त आगे दिया गया है उससे इस विषयमें कोई विशेष साम्य नहीं है। श्रीजानकीजीकी कृपाके कारण श्रीलक्ष्मणजीको श्रीरामगीताका उपदेश दिया गया तो क्या ये उस समय श्रीजानकीजीके अनुयायी या संरक्षक हुए? इससे उपदेश दिया गया और, क्या उस उपदेशमें ऐसा विषय है जिससे वे शूर्पणखाको पहिचानते? श्रीजानकीजीके संकेतसे लक्ष्मणजीको उपदेश दिया गया यह भी ग्रन्थसे नहीं पाया जाता।

मायाके दो भेद कहे गये हैं—विद्या और अविद्या। इनमेंसे अविद्या माया तो जीव और ब्रह्मके बीचमें विरोधी व्यवधान है। उसके अनुसार भाव यह कह सकते हैं कि जैसे मायाका व्यवधान होनेसे जीव ईश्वरको जान या देख नहीं सकता, वैसे ही लक्ष्मणजी श्रीजानकीजीके बीचमें होनेसे मार्गमें श्रीरामजीको ठीकसे देख नहीं पाते।

विद्यामाया भी जीव और ब्रह्मके बीचमें व्यवधान है, परंतु यह ब्रह्मतक पहुँचानेवाली है। अतः यह विरोधी न होकर सहायक है। इसके अनुसार भाव यह होगा कि जैसे विद्यामाया (अर्थात् भगवत्प्राप्तिके भजन, पूजन, स्मरण आदि सात्त्विक साधनों) की दृढ़ रक्षापर साधक जीवको दृष्टि रहती है और कामादि विकारोंका दमन करते हुए वह साधनोंपर दृढ़ रहता है तो उसको भगवत्प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि विद्यामायाकी दृष्टि सदा ब्रह्मपर रहती है, वह ब्रह्मकी अनुगामिनी है; अतः वह जीवको उनकी प्राप्ति करा सकती है। वैसे ही यहाँ श्रीलक्ष्मणजीकी दृष्टि श्रीसीताजीकी (राक्षसों आदिसे) रक्षापर है। जैसे कहीं मोड़पर श्रीरामजीसे ओझल हो जायँ तो भी श्रीजानकीजीके सहारे वे उनतक पहुँच जाते हैं, क्योंकि श्रीजानकीजीकी दृष्टि बराबर श्रीरामजीपर रहती है।

बाबा जयरामदासजी—यहाँ 'सोहइ' शब्द देकर कविने बन्धनकारिणी अविद्या माया और भेदकरी विद्या माया दोनों प्रकृतिरूपा यवनिकाओंसे विलक्षण भगवान्‌की नित्य आह्लादिनी शक्तिका लक्ष्य कराया है। प्राकृतमाया मोह और अज्ञानका हेतु है, जीव-ब्रह्मके साक्षात्कारमें आवरणरूप है, यथा—*'नाथ जीव तव माया मोहा'*, *'मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म।'* अतएव संसारी माया *'सोहइ'* नहीं बल्कि *'मोहइ'* है। वह हेय (त्याज्य) है। इसलिये उसे यहाँ नहीं समझना चाहिये। यह उपमा तो परधामके उस मुख्य अवसरकी है कि जब यह जीव संसारी मायासे मुक्त होकर नित्यधामको प्राप्त हो ब्रह्मके सम्मुख उपस्थित होता है; तब बीचमें स्वयं श्रीअम्बा लक्ष्मीजी खड़ी होकर भगवान्से अनुरोध करती हैं, जिससे उस चेतनको

भगवान् स्वीकार करते हैं। उस समय ब्रह्म और जीवके बीचमें जो शोभा श्रीजीकी होती है वही शोभा यहाँ श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजीके बीच श्रीसीताजीकी है। श्रीसीताजीका बीचमें चलना श्रीलक्ष्मणजीके सेवाधर्मको प्रकट करनेका कारण बनकर उनके भगवान्को अनुरोध करनेके कर्त्तव्यका भी औचित्य सिद्ध कर रहा है।

प० प० प्र०—यहाँ 'राम ब्रह्म हैं, सीताजी माया हैं और लक्ष्मणजी जीव हैं' ऐसा मानना अनर्थकारक होगा। यह केवल दृष्टान्त है। दृष्टान्तके उपमानोंको जैसे-तैसे उपमेयमें घटानेसे कैसा अनर्थ होगा यह ***'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भयें जैसा॥'*** इस एक ही उदाहरणसे देख लीजिये। इसमें कमल फूले बिना सरको निर्गुण ब्रह्म और फूले हुए कमलोंसहित सरको सगुण ब्रह्म मानना पड़ेगा। सर तो दृश्य, स्पृश्य, जल अवगाहनीय और पेय है और ब्रह्म तो '**मनोवागतीतम्**', '**अज व्यापकमेकमनादि**' इत्यादि है। ये सब धर्म सरमें मानने पड़ेंगे, जो हास्यास्पद ही है। मानसरहस्यकार (बाबा जयरामदासजी) की कल्पनाके अनुसार २। १२३। ५-६ का अर्थ लगानेसे कैसा अनर्थ होगा। यह पाठक स्वयं देख लें।

ब्रह्म और जीवके बीच माया कैसी ***'सोहइ'*** यह देखिये।

जीवका तात्त्विक रूप यह है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो माया बस भएउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥'''''''''***, वह ईश्वरका अंश है। विद्यामायाके बिना विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार भी अशक्य है और जब विश्वका उद्भव ही न होगा तब जीवत्व भी अशक्य है। इस दृष्टान्तमें श्रीसीताजी श्रीरामजीके पीछे-पीछे चलती हैं, जैसे ***'ईस बस्य माया गुनखानी'*** और लक्ष्मणजी श्रीसीताजीके पीछे-पीछे चलते हैं, जैसे ***'मायाबस्य जीव अभिमानी।'*** इससे स्पष्ट हुआ कि जैसी अघटितघटनापटीयसी मायाकी इच्छा, ज्ञानक्रिया, द्रव्यशक्तिसे निर्गुण ब्रह्मको सगुण ईश्वरत्व और ईश्वरांशको जीवत्व प्राप्त होता है (मायाके बिना दोनोंमें कुछ भी करनेकी शक्ति ही नहीं है), वैसे ही श्रीसीताजी दोनोंकी शोभा बढ़ा रही हैं।''''''''जैसे जीव और ईश्वरका कर्तृत्व केवल मायापर निर्भर रहता है, वैसे ही श्रीराम-लक्ष्मणजीकी ***'कीरति करनी'*** सीताजीके ही निमित्तसे होगी। धनुर्भङ्गके लिये प्रयाण करनेसे आजतक दोनोंका यश, प्रताप श्रीसीताजीके निमित्तसे ही प्रतीत हुआ है—यह है मुख्य भाव!—[पर पाठ है ***'श्री सोहइ', 'माया जैसी'*** (सोहइ) राम और अनुजका सोहना नहीं कहा। (मा० सं०) अन्यथा भाव अच्छा है।]

वि० त्रि०—ब्रह्मका अनुसरण माया करती है और जीव मायाका अनुसरण करता है। यथा—***'माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥'*** ब्रह्म मायाको नहीं देखता, माया ब्रह्मको देखा करती है। यथा—***'सो प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥'*** अथवा, ब्रह्मजीवमें भेद नहीं है, माया बीचमें आकर भेद बनाये हुए है। इसलिये रामजीकी उपमा ब्रह्मसे, सीताजीकी मायासे और लक्ष्मणजीकी जीवसे दी।

सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर* बाटा॥४॥
जहँ तहँ जाहिं देव रघुराया। करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया॥५॥

शब्दार्थ—***'अवघट'***=दुर्गम, जहाँ घाटकी सन्धि नहीं है, अटपट। 'देव'=दिव्य, सत्त्वगुणयुक्त महात्मा सत्यसन्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और बुद्धिमान् इत्यादि। ***'सो अवलंब देव मोहि देई।'*** (अ० ३०७ । ८) में देखिये।

अर्थ—नदी, वन, पहाड़ और अवघट घाट (सभी अपने) स्वामीको पहचानकर सुन्दर रास्ता देते हैं। (अर्थात् जहाँ घाट नहीं है वहाँ नदियाँ स्नानयोग्य घाट कर देती हैं, जहाँ जल अथाह है वहाँ गोपदजल हो जाता है कि पार जा सकें, वन-पर्वतोंमें जहाँ मार्ग दुर्गम है वहाँ सुन्दर कोमल मार्ग बन जाते हैं)॥ ४॥ जहाँ-जहाँ देव श्रीरघुनाथजी जाते हैं वहाँ-वहाँ मेघ आकाशमें छाया करते जाते हैं॥ ५॥

* सब—को० रा०।

पु० रा० कु०—१ *'पति पहिचानि'* क्योंकि सबके स्वामी हैं। भगवान् विराट्रूप हैं, यथा—*'बिस्वरूप रघुबंसमनि·······लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु'*— (लं० १४) [पण्डितजीका आशय यह जान पड़ता है कि विराट्रूपमें नदी, पर्वत आदि विराट्के शरीरकी नसें और हड्डियाँ आदि हैं। यथा—*'अस्थि सैल सरिता नस जारा।'* (६। १५) शरीरी-शरीर भाव होनेसे सरिता आदिके स्वामी हैं। सरिता-वनादि जीवकी भोगयोनियाँ हैं। जैसे मनुष्यादि शरीरोंमें जीवात्मा रहता है वैसे ही इन जड़ योनियोंमें भी जीवात्मा रहता है और जीवसमुदायका स्वामी परमात्मा है ही। इस भावसे सरिता आदि, (अर्थात् उनमें स्थित जीवात्माओं वा उनके अभिमानी देवताओं) का अपना स्वामी पहचानकर मार्ग देना उचित ही है। (इस समय ब्रह्म, माया जीवकी भाँति शोभा है, अत: पहिचाननेमें कठिनता नहीं है। वि० त्रि०)] २—नदी, वन आदि जड़ोंकी सेवा कही, इसीसे *'देव रघुराया'* कहा। ३—'सरिता' से जल, गिरि और वनसे स्थल और मेघसे नभ अर्थात् जगत्‌में जो तीन प्रकारके जीव हैं—*'जलचर थलचर नभचर नाना'* उन तीनोंसे सेवित और सुखकी प्राप्ति कही। ४—यहाँतक उत्तम, मध्यम, निकृष्ट तीनों प्रकारके जीवोंसे सेवित दिखाया। चेतनमें उत्तम मुनि, मध्यम मेघ और निकृष्ट सरितादि जो जड़ हैं। ५—खर्रा—अरण्यकाण्डसे प्रभुका ऐश्वर्य वर्णन हो चला है। और*'सरिता बन गिरि अवघट घाटा।'······· ॥ जहँ जहँ जाहिं·······'* ये अरण्यकाण्डकी प्रथम चौपाइयाँ हैं; अतएव यहाँ प्रारम्भसे ही ऐश्वर्य कथन कर चले हैं।

प० प० प्र०—*'पति पहिचानि·······'* इति। यहाँ शङ्का होती है कि 'क्या जब अयोध्यासे चित्रकूट गये थे तब सरिता आदिने उनको न पहचाना था?' उत्तर यह है कि तब भी पहचाना था, जैसा *'पदनख निरखि देवसरि हरषीं।'* (२। १०१। ४) से स्पष्ट है। पर भगवान्‌के मनमें भक्त (श्रीभरतजी) की महिमा बढ़ानेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी और सरिता, वन इत्यादिको (अपनी मायासे) सेवा करने नहीं दिया। (विशेष २। १०१। ४ और २। २१६ देखिये)। इस समय कोई विरुद्ध प्रेरणा न होनेसे निसर्ग उनकी सेवामें लग गया। (पूर्व कई बार बताया गया है कि अयोध्याकाण्डमें प्राय: पूर्ण माधुर्य बरता गया है और अरण्यकाण्डसे प्राय: ऐश्वर्य ही प्रधान है।)

नोट—१ यहाँ दण्डकारण्यको प्रस्थान करतेमें 'देव' पद दिया। शरभङ्गजी इसी पदका प्रयोग करेंगे, यथा—*'सो कछु देव न मोर निहोरा।'* अगस्त्यजीके आश्रमपर जानेके समय *'सुरभूप'* कहा है, यथा—*'मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा।'* (१२। ५)

मिला असुर बिराध मग जाता। आवत हीं रघुबीर निपाता॥ ६॥
तुरतहि रुचिर रूप तेहिं पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा॥ ७॥

अर्थ—विराध दैत्य रास्तेमें जाते हुए मिला, पास आते ही रघुकुलवीर श्रीरामजीने उसको मार डाला॥ ६॥ तुरंत ही उसने सुन्दर रूप पाया। उसको दु:खी देखकर (अर्थात् यह देख कि उसको किसी साधनका बल न था) प्रभुने उसको अपने लोकको भेज दिया॥ ७॥

'बिराध'—वाल्मीकीयमें लिखा है कि विराधने अपनी कथा श्रीरामचन्द्रजीसे स्वयं कही है। (क) मैं 'जव' राक्षसका पुत्र हूँ। मेरी माताका नाम शतह्रदा है और मेरा विराध नाम प्रसिद्ध है। ब्रह्माको प्रसन्न करके मैंने वर प्राप्त कर लिया है कि मैं किसी अस्त्र-शस्त्रसे न मर सकूँ न मेरा कोई अङ्ग कट या छिद सके।—(वाल्मी० स० ३) मैं इस बीहड़ वनमें भ्रमण करता हुआ मुनियोंका मांस खाया करता हूँ। (सर्ग २) (ख) (उसने जब अपना वध निश्चय जाना तब वह विनम्र होकर कहने लगा) हे पुरुषर्षभ! काकुत्स्थ! आपने मेरा वध किया। मोहवश मैंने आपको न जाना था। अब मैं जान गया कि आप राम हैं और ये लक्ष्मण, सीता हैं। मैं तुम्बरु नामका गन्धर्व हूँ। रम्भामें आसक्त होने और समयपर कुबेरजीकी सेवामें न पहुँचनेसे उन्होंने मुझे शाप दिया था, जिससे मैंने राक्षसी शरीर पाया। मेरे विनयपर उन्होंने कृपा करके शापानुग्रह यों किया कि जब रामचन्द्रजी रणमें तेरा वध करेंगे तब तू फिर इसी पूर्व रूपको प्राप्त होकर स्वर्गमें आवेगा। मैंने आपकी कृपासे शापसे मुक्त हो पूर्व रूप पाया, अब अपने लोकको जाता हूँ। गढ़ेमें मेरे शरीरको तोपकर आप शरभङ्गजीके आश्रमको पधारें (स० ४)।

अनुसूया-आश्रमसे चलनेपर विराधकुण्ड मिलता है जो विराध-वधस्थलका स्मारक है।

पु० रा० कु०—१ (क) (*'असुर'* कहकर आसुरीसम्पदासम्पन्न जनाया। गीता १६। ४ में दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान आसुरीसम्पत्तिवालोंके लक्षण बताये गये हैं। यथा— **'दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥'** पुनः, 'असुर' कहकर उसे सुर-मुनि-दुखदाता जनाया।)*'मग जाता'* पदसे जनाया कि वह रास्तेमें सबको लगता था, कोई उस ओरसे दण्डकारण्यको या यों कहिये कि दक्षिणको न जा सकता था। *'हठि सबही के पंथहिं लागा।'* (१। १८२) में जो भाव है ठीक वही भाव यहाँ है। (ख) वीर हैं अतः आते ही मार डाला। एवं आते ही मारा इसीसे *'रघुबीर'* कहा। इससे उसका भी पराक्रमी होना जना दिया। (ग) *'आवत ही'* शब्दमें गोस्वामीजीकी भक्तिकी झलक देख पड़ती है। जिन साक्षात् सीताका स्पर्श रावण नहीं कर सका, जिनकी छायामात्र (मायासीता) रावणके हाथ लगी, उनका स्पर्श, उनका हरण विराधद्वारा कैसे कह सकते हैं? *'निपाता'* पद दिया, क्योंकि किसी अस्त्र-शस्त्रसे वह न मर सकता था। जमीनमें गिराकर जीता गाड़ दिया गया।

नोट—१ सम्भव है कि उस कल्पमें जिसमें विष्णुभगवान्‌को शाप होनेसे श्रीरामजीने या विष्णुभगवान्‌ने रामावतार लिया उसमें वैसा ही हो जैसा वाल्मीकिजीने लिखा और जिस कल्पका अवतार यहाँ शिवजी कह रहे हैं उसमें ऐसा ही हो।—*'कलपभेद हरिचरित सुहाए'।*

नोट—२ जो लोग इसे वाल्मीकिका ही अवतरण समझें वे भले ही इस प्रकार समाधान कर सकते हैं कि श्रीसीतारामभक्त होनेके कारण उन्होंने वाल्मीकिजीकी रामायणका वह अंश ले लिया जो उन्होंने प्रथम कहा है **'ततः सज्यं धनुः कृत्वा रामः सुनिशिताञ्शरान्। सुशीघ्रमभिसंधाय राक्षसं निजघान ह॥'** (स० ३ श्लो० १०) अर्थात् यह कहते हुए कि मैं तुम्हें युद्धमें जीता न छोड़ूँगा, धनुषपर बाणका अनुसंधान कर उस राक्षसको मार डाला। और जो उठा ले जाना उसके पीछे कहा है वह उन्होंने छोड़ दिया। मानसकथा अ० रा० से विशेष मिलती है। अ० रा० में लिखा है कि विराध श्रीसीताजीको पकड़नेको दौड़ा तब श्रीरामजीने उसकी भुजाएँ काट डालीं। इसपर वह श्रीरामजीकी ओर दौड़ा तब उन्होंने उसके दोनों पैर काट डाले। तदनन्तर उसने अपने मुखसे अजगर सर्पकी तरह उन्हें निगलना चाहा। श्रीरामजीने अर्धचन्द्राकार बाणसे उसका सिर काट डाला। (३। १। ३०—३३) और, पद्मपुराणमें इतना ही उल्लेख है कि विराधको मारकर वे शरभङ्गजीके आश्रमपर गये। रामायणोंमें मतभेद होनेसे ग्रन्थकारने *'निपाता'* शब्द दिया जिसमें सबका समावेश है। मानसकी सीताजी श्रीराम-लक्ष्मणजीके बीचमें उनसे जिस प्रकार सुरक्षित चल रही हैं, उसमें विराधका उनके निकटतक पहुँचना कब सम्भव है? वाल्मीकीयमें इस सावधानताका उल्लेख नहीं है।

नोट—३ *'तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा।'''''''''* इति। (क) यह रुचिररूप उसका पूर्वजन्मका गन्धर्वरूप है। (ख) विराधके मृतशरीरसे आकाशस्थित सूर्यदेवके समान सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित और तपाये हुए सुवर्णालङ्कारोंसे सुसज्जित अति सुन्दर एक पुरुष उत्पन्न हुआ। यथा—**'विराधकायादतिसुन्दराकृतिर्विभ्राजमानो विमलाम्बरावृतः। प्रतप्तचामीकरचारुभूषणो व्यदृश्यताग्रे गगने रविर्यथा॥'** (अ० रा० ३। १। ३६) यही 'रुचिर' रूप है। (ग) *'देखि दुखी'* इति। रुचिररूप पाकर उसने दुःख दूर करनेवाले प्रभुको बारम्बार साष्टाङ्ग दण्डवत् की और प्रार्थना की कि भविष्यमें आपके भवमोचन चरणोंकी स्मृति मुझे सदा बनी रहे, मेरी वाणी आपके नाम-संकीर्तनमें, कान कथामें, हाथ आपकी सेवामें और सिर प्रणाममें संलग्न रहे। मैं आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। कृपा कीजिये कि आपकी माया मुझे अब न व्यापे। यथा—**'इतः परं त्वच्चरणारविन्दयोः स्मृतिः सदा मेऽस्तु भवोपशान्तये। त्वन्नामसंकीर्तनमेव वाणी करोतु मे कर्णपुटं त्वदीयम्॥ कथामृतं पातु करद्वयं ते पादारविन्दार्चनमेव कुर्यात्। शिरश्च ते पादयुगप्रणामं करोतु नित्यं भवदीयमेवम्॥ प्रसन्नं पाहि मां राम''''''''माया मां मावृणोतु ते।'** (अ० रा० ३। १। ३९-४०, ४२)। उसके बारम्बार पृथ्वीपर लोटकर प्रणाम करने और ऐसी प्रार्थनासे *'देखि दुखी'* कहा। (घ) *'निज धाम'* के दो अर्थ हैं। उसका अपना लोक अर्थात् गन्धर्वलोक, जैसा वाल्मीकि आदिका मत है, अथवा, साकेतलोक, वैकुण्ठलोक आदि अपने धामको भेजा। पर यहाँ

प्रसङ्गसे गन्धर्वलोक ही गृहीत है। मिलानके लिये ये उदाहरण हैं, (१)'*राम बालि निजधाम पठावा*', (२)'*रघुपति चरनकमल सिरु नाई। गयउ गगन आपनि गति पाई॥*' (३४। ४) (कबन्ध), (३)'*बंदि रामपद बारहिं बारा। पुनि निज आश्रम कहुँ पगु धारा॥*' (५। ५)। (शुक)

विराधवध-प्रकरण समाप्त हुआ।

शरभङ्ग-देहत्याग-प्रकरण

पुनि आए जहँ मुनि सरभंगा। सुंदर अनुज जानकी संगा॥ ८॥

दोहा—देखि राम मुख पंकज मुनिबर लोचन भृंग।
सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभंग॥ ७॥

शब्दार्थ—'*शरभङ्ग*'—शर=चिता। चिता लगाकर इन्होंने अपना शरीर भङ्ग किया, जो नाम था वही चरितार्थ भी हुआ। प्र० स्वामी अर्थ करते हैं कि—शर=नारिनयनशर। शरभङ्ग='*नारि नयन सर जाहि न लागा।*' =जितकाम। इससे जनाया कि नाम प्रथमसे ही सार्थक था।

अर्थ—फिर श्रीरामजी सुन्दर भाई और श्रीसीताजीके साथ वहाँ आये जहाँ मुनि शरभङ्गजी थे॥ ८॥ श्रीरामचन्द्रजीका मुखकमल देखकर मुनिश्रेष्ठके नेत्ररूपी भौंरे (उसके छबिरूपी मकरन्दरसको) सादर पान कर रहे हैं। शरभङ्गजीका जन्म अति धन्य है॥ ७॥

टिप्पणी—१ '*पुनि आए*' पदसे विराध-प्रसङ्गकी समाप्ति दिखायी। (मुनि श्रीसीतारामलक्ष्मण तीनोंके उपासक थे, वे तीनोंका हृदयमें निरन्तर निवास माँगेंगे। यह बात प्रारम्भमें ही'*सुंदर अनुज जानकी संगा*' कहकर जना दी है)। (क) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि विराधवध करके श्रीरामलक्ष्मणजी सूर्य और चन्द्रके समान शोभित हुए। यथा '**ततस्तु तौ कार्मुकखड्गधारिणौ निहत्य रक्षः परिगृह्य मैथिलीम्। विजह्रतुस्तौ मुदितौ महावने दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव॥**' (स० ४। ३४) अर्थात् वे दोनों स्वर्णमण्डित धनुष और खड्ग धारण किये हुए विराधको मारकर श्रीजानकीजीको लेकर उस महावनमें प्रसन्नतापूर्वक विचरने लगे, जैसे आकाशमें चन्द्र और सूर्य विचरण करते हैं। वही भाव गोस्वामीजी 'सुन्दर' विशेषणसे सूचित कर रहे हैं। जो सुकृती हैं वे ही मुखकमल देखते हैं, यथा—'*जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी॥*' (१। ३१०)'*ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखे देखिहहि जिन्ह देखे॥*' '*को जानै केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी॥*' (१। ३३५) '*जनक सुकृत मूरति*.........।' (१। ३१०) तथा यहाँ रामदर्शनसे '**अति धन्य**' कहा। मारीच भी इसी दर्शनके विचारसे अपनेको धन्य मानता है, यथा—'*फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहौं धन्य न मो सम आन।*' (३। २६) पुनः, (ख)'*अति धन्य*' से जनाया कि अन्य ऋषियोंका जन्म धन्य है और इनका'*अति धन्य*' है। अथवा, भ्रमर रह-रहकर मकरंद चूसता है और ये विक्षेपरहित पान कर रहे हैं अत:'*अति धन्य*' कहा। (भ्रमर और मुनिवर लोचनके पान करनेमें पूरा साम्य नहीं है, यह भृङ्ग और भङ्ग यमककी विषमताद्वारा जना दिया। (प० प० प्र०)

नोट—१ भौंरा रस पीता है। यहाँ '*पान करत*' से मकरंदका भी अध्याहार रूपकमें कर लिया गया। यथा—'*अरबिंद सो आनन रूपमरंद अनंदित लोचन भृंग पिये।*' (क० १। २) रूप ही मकरंद है। यहाँ परंपरिक रूपक है। मुखकी छबि मकरंद है यह पूर्व कहा जा चुका है। दोहा ६ छन्द'*मुखपंकज दिए*' में देखिये।

नोट—२ वाल्मीकिजी, अत्रिजी एवं अगस्त्यजी आदि ऋषियोंके मिलन-प्रसङ्गोंमें अगवानी आदि अनेक व्यवहार-कथन किये गये, पर यहाँ शरभङ्गजीके आश्रमपर ये कोई व्यवहार न हुए। श्रीरघुनाथजी स्वयं ही उनतक पहुँच गये। कारण कि वाल्मीकिजी आदिको तो उनके शिष्यों या कोलभीलोंने खबर दी और शरभङ्गजीको आगमनकी खबर देनेवाला कोई न था। क्योंकि बीचमें विराधके डरसे कोई भी इधरका मनुष्य उधर न जा सकता था।